

Chapter पच्चीस

राजा पुरञ्जन के गुणों का वर्णन

मैत्रेय उवाच

इति सन्दिश्य भगवान्बार्हिषदैरभिपूजितः ।

पश्यतां राजपुत्राणां तत्रैवान्तर्दधे हरः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—महर्षि मैत्रेय ने कहा; इति—इस प्रकार; सन्दिश्य—उपदेश देकर; भगवान्—सर्वशक्तिमान; बार्हिषदैः—राजा बर्हिषत् के पुत्रों द्वारा; अभिपूजितः—पूजा किया जाकर; पश्यताम्—उनके देखते-देखते; राज-पुत्राणाम्—राजा के पुत्रों का; तत्र—वहाँ; एव—निश्चय ही; अन्तर्दधे—अन्तर्धान हो गये; हरः—शिवजी ।

महर्षि मैत्रेय ने विदुर से आगे कहा : हे विदुर, शिवजी ने इस प्रकार से राजा बर्हिषत् के पुत्रों को उपदेश दिया। राजकुमारों ने भी शिवजी की अगाध भक्ति के साथ तथा श्रद्धापूर्वक पूजा की। अन्त में वे राजकुमारों की दृष्टि से ओझल हो गये।

तात्पर्य : इस अध्याय से प्राचीन काल में राजा के अधीन साम्राज्य सम्बन्धी एक महान् शिक्षा प्राप्त होती है। राजा बर्हिषत् ने राजकार्य से निवृत्त होने के पूर्व अपने पुत्रों को तप करने के लिए भेज दिया जिससे वे प्रजा की भलाई करने योग्य आदर्श राजा बन सकें। इसी के साथ ही राजा बर्हिषत् नारद मुनि से भौतिक जगत तथा इसका उपभोग करने वाले जीवात्मा के विषय में उपदेश ग्रहण कर रहे थे। इससे स्पष्ट हो जाता है कि राज्य का भार ग्रहण करने के पूर्व राजा तथा राजकुमारों को किस प्रकार प्रशिक्षित किया जाता था। प्रजा के कल्याण-कार्यों का लक्ष्य भगवान् को समझना होता था। यह मनुष्य-जीवन ईश्वर तथा उनसे अपने सम्बन्ध को समझने तथा उनकी सेवा में कार्य करने के लिए विशेष रूप से प्राप्त होता है। चूँकि प्रजा की आध्यात्मिक शिक्षा का दायित्व राजा के ऊपर रहता था, अतः राजा तथा प्रजा दोनों ही कृष्णभक्ति में प्रसन्न रहते थे। इस प्रसंग में यह स्मरण रखना होगा कि प्राचीन बर्हिषत् का राज-वंश नारद मुनि के प्रसिद्ध शिष्य तथा भगवद्भक्त महाराज ध्रुव से चला आ रहा है। राजा प्राचीन

बर्हिषत् विभिन्न प्रकार के यज्ञों को सम्पन्न करने के कारण सकाम कर्मों में अत्यधिक व्यस्त रहते थे। ऐसे यज्ञों के करने से कोई स्वर्गलोक की प्राप्ति कर सकता है, किन्तु उसकी मुक्ति अथवा भगवद्धाम जाने का प्रश्न ही नहीं उठता। जब नारद मुनि ने देखा कि महाराज ध्रुव का वंशज इस प्रकार के सकाम कर्मों में लगा रहकर पथभ्रष्ट हो रहा है, तो नारद जी को उस पर दया आई और वे स्वयं उसे जीवन के परम वरदान, भक्तियोग, का उपदेश देने के लिए आये। इस पच्चीसवें अध्याय में अत्यन्त रोचक ढंग से इसका वर्णन हुआ है कि नारद मुनि ने किस प्रकार राजा प्राचीन बर्हिषत् को परोक्ष रूप में भक्तियोग से अवगत कराया।

रुद्रगीतं भगवतः स्तोत्रं सर्वे प्रचेतसः ।

जपन्तस्ते तपस्तेपूर्वर्षाणामयुतं जले ॥ २ ॥

शब्दार्थ

रुद्र-गीतम्—शिवजी द्वारा गाया गया गीत; भगवतः—भगवान् का; स्तोत्रम्—स्तुति; सर्वे—सभी; प्रचेतसः—प्रचेता नामक राजकुमार; जपन्तः—उच्चारण करते हुए; ते—उन सबों ने; तपः—तपस्या; तेषुः—साधना की; वर्षाणाम्—वर्षों की; अयुतम्—दस हजार; जले—जल के भीतर।

सभी प्रचेतागण दस हजार वर्षों तक जल के भीतर खड़े रहकर शिवजी द्वारा दिये गये स्तोत्र का जप करते रहे।

तात्पर्य : निस्सन्देह, इस युग में यह सुनकर किसी के भी अत्यन्त आश्चर्य होगा कि वे राजकुमार दस हजार वर्षों तक किस प्रकार जल में खड़े रहे। किन्तु चाहे वायु में खड़ा रहना हो या जल के भीतर—दोनों एकसमान हैं। केवल सीखना-भर है कि इसे कैसे किया जाये। जलचर तो जल के भीतर आजीवन रहते हैं। जल में रह सकने के लिए विशेष अनुकूल स्थितियां उत्पन्न हो जाती हैं। उन दिनों लोग एक लाख वर्ष तक जीवित रहते थे। यदि इस अवधि में से कोई दस हजार वर्ष तपस्या में लगा देता था, तो उसका भावी जीवन सफल हो जाता था। अतः यह कोई आश्चर्यजनक बात न थी। यद्यपि इस युग में ऐसा चमत्कार असम्भव है, किन्तु सतयुग में संभव था।

प्राचीनबर्हिषं क्षत्तः कर्मस्वासक्तमानसम् ।

नारदोऽध्यात्मतत्त्वज्ञः कृपालुः प्रत्यबोधयत् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

प्राचीनबर्हिषम्—राजा प्राचीनबर्हिषत् को; क्षत्तः—हे विदुर; कर्मसु—सकाम कर्मों में; आसक्त—रत; मानसम्—चित्त; नारदः—नारदमुनि ने; अध्यात्म—अध्यात्मविद्या; तत्त्व-ज्ञः—विशारद, सत्य का ज्ञाता; कृपालुः—कृपा करके; प्रत्यबोधयत्—उपदेश दिया।

जब राजकुमार जल के भीतर कठिन तपस्या कर रहे थे तो उनके पिता विभिन्न प्रकार के सकाम कर्म सम्पन्न करने में रत थे। उसी समय समस्त आध्यात्मिक जीवन के ज्ञाता तथा शिक्षक परम सन्त नारद ने राजा पर अत्यन्त कृपालु होकर उन्हें आध्यात्मिक जीवन के विषय में उपदेश देने का निश्चय किया।

तात्पर्य : जैसाकि भगवान् चैतन्य के परम भक्त प्रबोधानन्द सरस्वती ठाकुर ने इंगित किया है, कैवल्य अर्थात् ब्रह्मतेज के साथ तादात्म्य, एक प्रकार से नरक को जाना है। इसी प्रकार स्वर्गिक जीवन का आनन्द उठाने के लिए स्वर्ग जाने की इच्छा भी मायाजाल है। इसका अर्थ यह हुआ कि भक्त कभी भी ज्ञानियों तथा कर्मियों के अन्तिम लक्ष्य को कोई महत्त्व प्रदान नहीं करता। कर्मियों का अन्तिम लक्ष्य स्वर्गलोक को प्राप्त करना है और ज्ञानियों का लक्ष्य ब्रह्मतेज के साथ तदाकार होना है। जैसाकि भगवान् चैतन्य ने पुष्टि की है, ज्ञानी निस्सन्देह, कर्मियों से श्रेष्ठ हैं। *कोटि कर्मनिष्ठमध्ये एक 'ज्ञानी' श्रेष्ठ—“एक ज्ञानी अर्थात् निर्विशेषवादी हजारों सकाम कर्मियों से श्रेष्ठ होता है” (चैतन्य-चारितामृत, मध्य १९.१४७)* अतः भक्त कभी भी कर्म के पथ में प्रविष्ट नहीं होता। जब नारद मुनि ने राजा को सकाम कर्म में व्यस्त देखा तो उन्हें दया आई। इसमें सन्देह नहीं कि संसारी कर्मियों की तुलना में यज्ञ सम्पन्न करके उच्चलोक की आकांक्षा करने वाले श्रेष्ठ हैं, किन्तु शुद्ध भक्ति में कर्म तथा ज्ञान दोनों ही माया के मोहक गुण माने जाते हैं।

श्रेयस्त्वं कतमद्राजन्कर्मणात्मन ईहसे ।

दुःखहानिः सुखावाप्तिः श्रेयस्तन्नेह चेष्यते ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

श्रेयः—चरम अशीर्वाद, वर; त्वम्—तुम; कतमत्—वह क्या है?; राजन्—हे राजा; कर्मणा—सकाम कार्य द्वारा; आत्मनः—आत्मा का; ईहसे—चाहते हो; दुःख-हानिः—समस्त कष्टों का लोष; सुख-अवाप्तिः—समस्त सुखों की प्राप्ति; श्रेयः—आशीर्वाद; तत्—वह; न—कभी नहीं; इह—इस प्रसंग में; च—तथा; इष्यते—प्राप्य है।

नारद मुनि ने राजा प्राचीनबर्हिषत् से पूछा: हे राजन्, तुम इन सकाम कर्मों के द्वारा कौन सी इच्छा पूरी करना चाहते हो? जीवन का मुख्य उद्देश्य तो समस्त कष्टों से छुटकारा पाना तथा सुख भोगना है, किन्तु इन दोनों को सकाम कर्म द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता।

तात्पर्य : इस संसार में मोह ने वास्तविक बुद्धि को अच्छादित कर रखा है। रजोगुणी व्यक्ति किञ्चित् लाभ के लिए कठोर श्रम करने को उद्यत रहता है, किन्तु उसे इसका ज्ञान भी नहीं रहता कि काल उसे सदा के लिए कुछ भी भोगने नहीं देगा। श्रम की तुलना में मनुष्य को जो लाभ मिलता है, वह उपयोगी नहीं होता और यदि उपयोगी हुआ भी, तो निरापद नहीं होता। यदि कोई मनुष्य पैदायती धनी नहीं है और वह घर, मोटर तथा अन्य भौतिक वस्तुएँ खरीदना चाहता है, जिसके लिए उसे वर्षों अहर्निश श्रम करना पड़ता है। इस प्रकार बिना कुछ कष्ट उठाये सुख की प्राप्ति नहीं होती।

वास्तव में इस संसार के भीतर विशुद्ध सुख तो मिल ही नहीं सकता। यदि हम कोई सुखोपभोग करना चाहते हैं, तो बदले में कोई दूसरा कष्ट उठाना होगा। कुल मिलाकर दुख इस संसार की प्रकृति बन चुका है और हम जो भी सुख भोगना चाहते हैं वह मात्र छलावा (मोह) है। अन्ततः हम सबों को जन्म, जरा, रोग तथा मृत्यु के कष्ट सहने पड़ते हैं। भले ही हम बढ़िया से बढ़िया दवाएँ खोज निकालें, किन्तु रोग या मृत्यु द्वारा उत्पन्न कष्टों को रोक पाना असम्भव है। वस्तुतः दवा, रोग अथवा मृत्यु के लिए निराकरण नहीं है। कहने का तात्पर्य यह कि इस संसार में कहीं भी सुख नहीं है, किन्तु मोहग्रस्त व्यक्ति तथाकथित सुख के लिए कठिन श्रम करता है। निस्सन्देह कठिन श्रम करने को ही सुख मान लिया जाता है। यही मोह है।

इसीलिए नारद मुनि ने राजा प्राचीनबर्हिषत् से पूछा कि वे इतने व्ययसाध्य यज्ञों को करके क्या पाना चाह रहे हैं। यदि कोई स्वर्गलोक पा भी ले तो उसे जन्म, जरा, रोग तथा मृत्यु से छुटकारा नहीं मिल सकता। चाहे तो कोई यह तर्क कर सकता है कि भक्तों को भी भक्ति के लिए कठिन तपस्या करते समय अनेक कष्ट सहने पड़ते हैं। निस्सन्देह, नवदीक्षितों के लिए भक्ति-साधना अत्यन्त कष्टप्रद लग सकती है, किन्तु उन्हें यह आशा तो बनी रहती है कि अन्ततः उनके सारे कष्ट दूर होंगे और उन्हें सुख की चरम अवस्था प्राप्त हो सकेगी। सामान्य कर्मियों को ऐसी आशा नहीं रहती, क्योंकि उन्हें स्वर्गलोक की प्राप्ति हो भी जाय तो जन्म, जरा, रोग तथा मृत्यु से मुक्ति का कोई आश्वासन प्राप्त नहीं रहता। यहाँ तक कि सर्वोच्च लोक (ब्रह्मलोक) में स्थित ब्रह्मा को भी मरना पड़ता है। भले ही ब्रह्मा का जन्म तथा मृत्यु सामान्य व्यक्ति के जन्म तथा मृत्यु से भिन्न हो, किन्तु इस संसार में वे भी जन्म, जरा, रोग तथा मृत्यु के दुख से बच नहीं पाते। अतः यदि कोई सचमुच इन कष्टों से मुक्ति का इच्छुक

है, तो उसे भक्ति करनी चाहिए। इसकी पुष्टि स्वयं भगवान् ने भगवद्गीता (४.९) में की है।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥

“हे अर्जुन! जो व्यक्ति मेरे प्राकट्य तथा कर्मों की दिव्य प्रकृति से अवगत है, वह इस शरीर को त्यागने पर इस भौतिक जगत में पुनः जन्म नहीं लेता वरन् मेरे धाम को प्राप्त होता है।”

इस प्रकार भक्त पूर्ण कृष्णभक्ति प्राप्त करने पर मृत्यु के पश्चात् इस संसार में फिर नहीं आता। वह भगवान् के धाम को वापस जाता है। यही सुख की चरमावस्था है, जिसमें दुख का लेशमात्र भी नहीं रहता।

राजोवाच

न जानामि महाभाग परं कर्मापविद्धधीः ।

ब्रूहि मे विमलं ज्ञानं येन मुच्येय कर्मभिः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

राजा उवाच—राजा ने उत्तर दिया; न—नहीं; जानामि—जानता हूँ; महा-भाग—हे महापुरुष; परम्—दिव्य; कर्म—कर्मों के द्वारा; अपविद्ध—बींधी जाकर; धीः—मेरी बुद्धि; ब्रूहि—कृपया बताइये; मे—मुझको; विमलम्—विशुद्ध; ज्ञानम्—ज्ञान; येन—जिससे; मुच्येय—मैं छुटकारा पा सकूँ; कर्मभिः—कर्मों से।

राजा ने उत्तर दिया: हे महात्मन् नारद, मेरी बुद्धि सकाम कर्मों में उलझी हुई है, अतः मुझे अपने जीवन के चरम लक्ष्य का ज्ञान नहीं रह गया है। कृपा करके मुझे विशुद्ध ज्ञान प्रदान कीजिये जिससे मैं सकाम कर्मों के बन्धन से छुटकारा पा सकूँ।

तात्पर्य : श्री नरोत्तमदास ठाकुर का गीत है—

सत्संग छाडि' कैनु असते विलास ।

ते-कारणे लागिल ये कर्म-बन्ध-फाँस ॥

जब तक मनुष्य सकाम कर्मों से बँधा रहेगा उसे एक के बाद दूसरा शरीर धारण करना होगा। यह कर्म-बन्ध-फाँस कहलाती है। चाहे कोई पुण्यकर्मों से बँधा रहे या पापकर्मों से, दोनों ही भौतिक शरीरों में बँधे रहने के कारण हैं। पुण्यकर्मों के कारण मनुष्य समृद्ध परिवार में जन्म लेकर अच्छी शिक्षा तथा सुन्दर शरीर प्राप्त कर सकता है, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उसको जीवन के दुखों से छुटकारा मिल गया। पाश्चात्य देशों में न तो समृद्ध परिवार में जन्म लेना कोई असामान्य बात है, न उच्च

शिक्षा तथा सुन्दर शरीर प्राप्त करना ही, किन्तु इसका यह भी अर्थ नहीं है कि पाश्चात्य लोग जीवन के कष्टों से मुक्त हैं। यद्यपि आजकल पाश्चात्य देशों की तरुण पीढ़ी को पर्याप्त शिक्षा, शारीरिक सुन्दरता तथा धन उपलब्ध है और यद्यपि वहाँ पर्याप्त भोजन, वस्त्र तथा इन्द्रियुत्पत्ति की समस्त सुविधाएँ सुलभ हैं, किन्तु वे दुखी हैं। दरअसल वे इतने दुखी हैं कि वे हिप्पी बन रहे हैं और प्रकृति के नियम उन्हें अत्यन्त दुखमय जीवन बिताने के लिए बाध्य करते हैं। वे मैले-कुचैले घूमते हैं। न तो उनके कोई आश्रय है, न भोजन है। वे सड़कों में सोते हैं। इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि कोई पुण्यकर्म करने से ही सुखी नहीं बन सकता। यह सच नहीं है कि जो राजसी ठाठ-बाट में जीवन बिताते हैं, वे जन्म, जरा, रोग तथा मृत्यु के भौतिक कष्टों से मुक्त हैं। अतः कोई पुण्य या पापकर्मों के आधार पर ही सुखी नहीं हो सकता। ऐसे कर्मों से केवल बन्धन तथा एक शरीर से दूसरे में देहान्तर होता है। नरोत्तम दास ठाकुर इसे ही *कर्म-बन्ध-फाँस* कहते हैं।

राजा प्राचीनबर्हिषत् ने इसे स्पष्टतः स्वीकार करते हुए नारद मुनि से प्रश्न किया कि वे इस *कर्म-बन्ध-फाँस* से किस प्रकार निकल सकते हैं। वेदान्त सूत्र के प्रथम श्लोक में वस्तुतः यही बात कही गई है—*अथातो ब्रह्म जिज्ञासा*। जब मनुष्य *कर्म-बन्ध-फाँस* का निर्वाह करते हुए हताश दशा को प्राप्त हो जाता है, तो वह जीवन के वास्तविक महत्त्व के विषय में जिज्ञासा प्रकट करता है। यही *ब्रह्म-जिज्ञासा* है। जीवन के चरमलक्ष्य के विषय में जिज्ञासा करने के लिए वेदों का (*मुण्डकोपनिषद् ११.२.१२*) आदेश है—*तद् विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्*—“तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रामाणिक गुरु के पास जाना चाहिए।”

राजा प्राचीनबर्हिषत् को नारद मुनि जैसे परम गुरु मिले, अतः उन्होंने उस ज्ञान के विषय में प्रश्न किया जिससे *कर्म-बन्ध-फाँस* से छूटा जा सके। मानव जीवन का यही वास्तविक उद्देश्य है। जैसाकि *श्रीमद्भागवत (१.२.१०)* में कहा गया है *जीवस्य तत्त्व-जिज्ञासा जाथेयिषा चेह कर्ममिः* मनुष्य का एकमात्र कार्य है कि वह प्रामाणिक गुरु से *कर्म-बन्ध-फाँस* से निकलने का उपाय पूछे।

गृहेषु कूटधर्मेषु पुत्रदारधनार्थधीः ।
न परं विन्दते मूढो भ्राम्यन्संसारवर्त्मसु ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

गृहेषु—गृहस्थ जीवन में; कूट-धर्मेषु—छद्म धर्म में; पुत्र—पुत्र; दार—स्त्री; धन—सम्पत्ति; अर्थ—जीवन लक्ष्य पुरुषार्थ; धीः—मानने वाला; न—नहीं; परम्—परम; विन्दते—प्राप्त करता है; मूढः—दुष्ट; भ्राम्यन्—घूमता हुआ; संसार—संसार के; वर्त्मसु—रास्तों पर।

जो तथाकथित सुन्दर जीवन अर्थात् सन्तान तथा स्त्री में फँस कर गृहस्थ के रूप में रहने तथा सम्पत्ति के पीछे लगे रहने में ही रुचि रखते हैं, वे इन्हीं वस्तुओं को जीवन का चरम लक्ष्य मान बैठते हैं। ऐसे लोग जीवन का चरम लक्ष्य प्राप्त किये बिना इस संसार में ही विभिन्न देहों में घूमते रहते हैं।

तात्पर्य : जो लोग गृहस्थ जीवन के प्रति अत्यधिक आसक्त रहते हैं—जिसका अर्थ है स्त्री, बच्चों, सम्पत्ति तथा घर गृहस्थी से बँधे रहना—वे कूट धर्म में लगे रहते हैं। प्रह्लाद महाराज ने इस कूट धर्म को अन्धकूप कहा है। उन्होंने जान बूझकर इसे अन्धकूप कहा है, क्योंकि यदि मनुष्य इस कुएँ में गिर जाता है, तो वह मर जाता है। भले ही वह सहायता के लिए चीखे चिल्लाये, किन्तु कोई सुनेगा नहीं या कोई उसकी सहायता के लिए आगे नहीं आता।

भ्राम्यन् संसार-वर्त्मसु पद महत्त्वपूर्ण शब्द हैं। श्रीचैतन्य-चरितामृत (मध्य १९.१५१) में श्री चैतन्य महाप्रभु ने स्पष्ट बताया है—ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान् जीव। सभी जीवात्माएँ विभिन्न लोकों में भिन्न-भिन्न शरीर धारण करके विचरण करती हैं और यदि घूमते घूमते भगवत्कृपा से किसी भक्त से उनकी भेंट हो जाती है, तो उनके जीवन सार्थक हो जाते हैं। यद्यपि राजा प्राचीनबर्हिषत् सकाम कर्म में लगे हुए थे, किन्तु नारदमुनि उनके समक्ष प्रकट हुए। राजा अत्यन्त भाग्यवान् था कि उसे नारद की संगति प्राप्त हो सकी। उन्होंने उसे आध्यात्मिक ज्ञान प्रदान किया। समस्त सन्तों का कर्तव्य है कि वे नारद मुनि के चरणचिह्नों पर चलते हुए संसार भर के प्रत्येक देश तथा गाँव में विचरण करें और मोहग्रस्त व्यक्तियों को जीवन-उद्देश्य के विषय में उपदेश देकर उन्हें कर्म-बन्ध-फाँस से छुड़ाएँ।

नारद उवाच

भो भोः प्रजापते राजन्यशून्यश्य त्वयाध्वरे ।
संज्ञापिताञ्जीवसङ्घान्निर्घृणेन सहस्रशः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

नारदः उवाच—नारद मुनि ने उत्तर दिया; भोः भोः—हे, अरे; प्रजा-पते—हे प्रजा के शासक; राजन्—हे राजा; पशून्—पशुओं को; पश्य—देखो; त्वया—तुम्हारे द्वारा; अध्वरे—यज्ञ में; संज्ञापितान्—मारे गये; जीव-सङ्घान्—पशु समूह; निर्घृणेन—निर्दयतापूर्वक; सहस्रशः—हजारों।

नारद मुनि ने कहा : हे प्रजापति, हे राजन्, तुमने यज्ञस्थल में जिन पशुओं का निर्दयतापूर्वक

वध किया है, उन्हें आकाश में देखो।

तात्पर्य : चूँकि वेदों में पशु-यज्ञ की संस्तुति है, अतः समस्त धार्मिक अनुष्ठानों में पशुबलि दी जाती है। किन्तु शास्त्रों में दी गई विधि से पशुबलि करके संतुष्ट नहीं हो जाना चाहिए। मनुष्य को इन अनुष्ठानों से ऊपर उठकर वास्तविक सत्य—जीवन लक्ष्य—जानने का प्रयत्न करना चाहिए। नारद मुनि ने राजा को जीवन के असली लक्ष्य का उपदेश देकर उसके हृदय में वैराग्य की भावना जगानी चाही। ज्ञान तथा वैराग्य ही जीवन के चरमलक्ष्य हैं। बिना ज्ञान के मनुष्य भौतिक सुखों को नहीं छोड़ सकता और भौतिक सुख से विरक्त हुए बिना मनुष्य आध्यात्मिक उन्नति नहीं कर सकता। कर्मों प्रायः इन्द्रियतृप्ति में लगे रहते हैं और इसके लिए वे अनेक सारे पापकर्म कर सकते हैं। पशुवध तो ऐसे पापकर्मों में से एक है। फलतः नारदमुनि ने अपनी योगशक्ति से राजा प्राचीनबर्हिषत् को वे सारे मृत पशु दिखलाये जिनका राजा ने वध किया था।

एते त्वां सम्प्रतीक्षन्ते स्मरन्तो वैशसं तव ।

सम्परेतमयःकूटैश्छिन्दन्त्युत्थितमन्यवः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

एते—ये सब; त्वाम्—तुम्हारी; सम्प्रतीक्षन्ते—प्रतीक्षा कर रहे हैं; स्मरन्तः—स्मरण करते हुए; वैशसम्—पीड़ा; तव—तुम्हारी; सम्परेतम्—मृत्यु के पश्चात्; अयः—लोहे के; कूटैः—सींगों से; छिन्दन्ति—छेदेंगे; उत्थित—जागृत; मन्यवः—क्रोध।

ये सारे पशु तुम्हारे मरने की प्रतीक्षा कर रहे हैं जिससे वे उन पर किये गये आघातों का बदला ले सकें। तुम्हारी मृत्यु के बाद वे अत्यन्त क्रोधपूर्वक तुम्हारे शरीर को लोहे के अपने सींगों से बेध डालेंगे।

तात्पर्य : नारद मुनि का उद्देश्य राजा प्राचीनबर्हिषत् का ध्यान यज्ञों में होने वाले अत्यधिक पशुवध के अत्याचार की ओर आकृष्ट करना था। शास्त्रों का कथन है कि यज्ञ में पशुओं का वध करने से उन्हें मनुष्य-जन्म प्राप्त होता है। इसी प्रकार जो क्षत्रिय युद्धभूमि में न्यायोचित उद्देश्य से अपने शत्रुओं से लड़ते हुए अपने शत्रुओं को मारते हैं, वे मृत्यु के पश्चात् स्वर्गलोक प्राप्त करते हैं। मनुस्मृति में कहा गया है कि राजा के लिए यह आवश्यक है कि वह हत्यारे को इसी जीवन में दण्डित करे जिससे अपने अपराधों के लिए उसे अगले जन्म में कष्ट न भोगना पड़े। इसी आधार पर नारद मुनि राजा को आगाह कर रहे हैं कि उसके द्वारा यज्ञ में जितने पशुओं का वध हुआ है वे उसकी मृत्यु के बाद अपना बदला

लेने की प्रतीक्षा कर रहे हैं। नारद मुनि यहाँ पर अपनी बात का खंडन नहीं कर रहे हैं। नारद मुनि राजा को विश्वास दिलाना चाहते थे कि अत्यधिक पशुवध खतरनाक है, क्योंकि यदि ऐसे यज्ञ में थोड़ी-सी भी त्रुटि रह जाती है, तो बलि किया गया पशु मनुष्य देह नहीं पा सकता। फलतः यज्ञ करने वाले पुरुष को ऐसे पशु की मृत्यु के लिए उत्तरदायी होना पड़ेगा, ठीक वैसे जैसे कोई हत्यारा अन्य व्यक्ति की हत्या के लिए जिम्मेदार होता है जब किसी बूचड़खाने में पशुओं का वध किया जाता है, तो उस वध के लिए छः व्यक्ति उत्तरदायी होते हैं, जो उस वध से सम्बन्धित हैं। जो व्यक्ति पशुवध की आज्ञा देता है, जो वध करता है, जो उसकी सहायता करता है, जो उसके मांस को खरीदता है, जो उसके मांस को पकाता है तथा जो उसे खाता है—ये सब हत्या के लिए उत्तरदायी बनते हैं। नारद मुनि राजा का ध्यान इसी तथ्य की ओर आकृष्ट करना चाह रहे थे। इस प्रकार से यज्ञ में भी पशुवध को प्रोत्साहन नहीं दिया जाता।

अत्र ते कथयिष्येऽमुमितिहासं पुरातनम् ।

पुरञ्जनस्य चरितं निबोध गदतो मम ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

अत्र—यहाँ पर; ते—तुमसे; कथयिष्ये—कहूँगा; अमुम्—इस प्रसंग में; इतिहासम्—इतिहास; पुरातनम्—अत्यन्त प्राचीन; पुरञ्जनस्य—पुरञ्जन के विषय में; चरितम्—उसका चरित्र, आख्यान; निबोध—समझने का यत्न करो; गदतः मम—मैं सुना रहा हूँ।

इस सम्बन्ध में मैं एक प्राचीन इतिहास सुनाना चाहता हूँ जो पुरञ्जन नामक राजा के चरित से सम्बन्धित है। इसे ध्यानपूर्वक सुनो।

तात्पर्य : नारद मुनि एक दूसरे प्रसंग की ओर मुड़ गये—यह था राजा पुरञ्जन का इतिहास। यह राजा प्राचीनबर्हिषत् का इतिहास है, जिसे भिन्न ढंग से कहा गया है। दूसरे शब्दों में, यह रूपक या अन्योक्ति है। पुरञ्जन शब्द का अर्थ है “जो देह का भोग करता है।” इसकी स्पष्ट व्याख्या अगले कुछ अध्यायों में मिलती है। चूँकि भौतिक कर्मों में रत व्यक्ति भौतिक कार्यों से सम्बद्ध कहानियाँ सुनना चाहता है, अतः नारद ने राजा पुरञ्जन का चरित सुनाना प्रारम्भ किया जो एक तरह से प्राचीनबर्हिषत् का ही इतिहास था। नारद मुनि ने प्रत्यक्षरूप से यज्ञों की भर्त्सना नहीं की जिनमें पशुबलि दी जाती थी; किन्तु भगवान् बुद्ध ने प्रत्यक्ष रूप से ऐसा किया। श्रील जयदेव गोस्वामी ने कहा—*निन्दसि यज्ञ विधेरहह श्रुतिजातम्। श्रुतिजातम्* शब्द बताता है कि वेदों में पशुयज्ञ की संस्तुति है, किन्तु भगवान् बुद्ध

ने पशुयज्ञ बन्द कराने के लिए वैदिक प्रमाण का विरोध किया। फलतः जो वेदों के अनुयायी हैं, वे भगवान् बुद्ध को नहीं मानते। चूँकि वे वेदों के प्रमाण को नहीं मानते, इसलिए उन्हें नास्तिक के रूप में चित्रित किया जाता है। नारद मुनि वेदों के प्रमाण की अवहेलना नहीं कर सकते, किन्तु वे राजा प्राचीनबर्हिषत् को बता देना चाहते थे कि कर्मकाण्ड का मार्ग अत्यन्त कठिन एवं खतरनाक है।

मूर्ख लोग इन्द्रियसुख के लिए कर्मकाण्ड के कठिन मार्ग का अनुसरण करते हैं और जो लोग इन्द्रियसुख के प्रति अत्यधिक अनुरक्त रहते हैं, वे मूढ़ (दुष्ट) कहलाते हैं। मूढ़ अत्यन्त कठिनाई से जीवन के चरम लक्ष्य को समझ पाते हैं। कृष्णभावनामृत-आन्दोलन को अग्रसर करते समय हमें सचमुच यह देखने को मिलता है कि अनेक लोग इसके प्रति आकृष्ट नहीं होते, क्योंकि वे सकाम कर्म में लगे रहने वाले मूढ़ हैं। कहा भी गया है— *उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये*। यदि मूर्ख व्यक्ति को उपदेश दिया जाता है, तो वह क्रुद्ध होता है और उपदेश से लाभ उठाने के बजाय उसके विरुद्ध कार्य करता है। चूँकि नारद मुनि इससे भली-भाँति परिचित थे, अतः उन्होंने अप्रत्यक्ष रीति से राजा को उसका पूरा इतिहास बताकर उपदेश देना चाहा। सोने या हीरे की नथुनी या बाली पहनने के लिए नाक या कान छिदवाना पड़ता है। इन्द्रियतृप्ति के लिए इस प्रकार की पीड़ा कर्मकाण्ड के मार्ग पर सह ली जाती है। यदि कोई भविष्य में सुख चाहता है, तो उसे वर्तमान में कष्ट उठाना पड़ेगा। यदि कोई भविष्य में करोड़पती बनकर सुखोपभोग करना चाहता है, तो उसे इस जीवन में धन संचित करने के लिए अत्यधिक श्रम करना होगा। यही *कर्म-काण्ड* है। जो इस मार्ग के प्रति अनुरक्त हैं उन्हें खतरे तो सहने ही पड़ते हैं। नारद मुनि राजा प्राचीनबर्हिषत् को दिखा देना चाहते थे कि सकाम कर्म में लगे रहने के लिए कितने महान् कष्ट सहने पड़ते हैं। जो व्यक्ति भौतिक कर्म के प्रति अत्यधिक आसक्त रहता है, वह *विषयी* कहलाता है। *विषयी* का अर्थ है विषय का भोग करने वाला, जिसका अर्थ है खाना, सोना, संभोग करना तथा अपनी रक्षा करना। नारद मुनि राजा पुरञ्जन की कथा के माध्यम से यह बताना चाह रहे हैं कि खाना, सोना, संभोग करना तथा अपनी रक्षा करना—ये सारे कर्म अत्यन्त कष्टप्रद एवं खतरनाक हैं।

इतिहासम् तथा *पुरातनम्* शब्द यह बताते हैं कि यद्यपि जीवात्मा भौतिक शरीर के भीतर रहता है, किन्तु उसका इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। इस सम्बन्ध में श्रील भक्ति विनोद ठाकुर का गीत है—

अनादि कर्मफले, पड़ि भवार्णवजले, तरिबारे ना देखि उपाय—“अपने पूर्वकर्मों के कारण मैं संसार रूपी सागर के जल में गिर गया हूँ और अब मुझे इसमें से निकलने का कोई उपाय नहीं सूझ रहा।” इस भौतिक जगत में प्रत्येक जीवात्मा अपने विगत कर्मों के कारण दुख उठा रहा है, अतः हर एक का अपना-अपना प्राचीन इतिहास है। मूर्ख भौतिक विज्ञानियों ने विकास सम्बन्धी अपने-अपने सिद्धान्त बनाये हैं जिनका सम्बन्ध केवल भौतिक शरीर से है। किन्तु वास्तव में यही असली विकास नहीं है। असली विकास तो जीवात्मा का इतिहास है, जो पुरञ्जन अर्थात् शरीर के भीतर रहने वाला है। श्री नारद मुनि इस विकास सिद्धान्त की व्याख्या विज्ञ पुरुषों के लिए भिन्न रूप में करेंगे।

आसीत्पुरञ्जनो नाम राजा राजन्बृहच्छ्रवाः ।

तस्याविज्ञातनामासीत्सखाविज्ञातचेष्टितः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

आसीत्—था; पुरञ्जनः—पुरञ्जन; नाम—नामक; राजा—राजा; राजन्—हे राजा; बृहत्-श्रवाः—यशस्वी, जिसके कार्य महान् थे; तस्य—उसका; अविज्ञात—अविज्ञात, ज्ञात न होना; नामा—नामक; आसीत्—था; सखा—मित्र; अविज्ञात—अज्ञात; चेष्टितः—जिसके कर्म।

हे राजन्, प्राचीन काल में पुरुञ्जन नामक एक राजा था, जो अपने महान् कार्यों के लिए विख्यात था। उसके एक मित्र था जिसका नाम अविज्ञात (अज्ञात) था। अविज्ञात के कार्यों को कोई भी नहीं समझ सकता था।

तात्पर्य : प्रत्येक जीवात्मा पुरञ्जन है। पुरम् शब्द का अर्थ है “इस शरीर के भीतर या इस रूप के भीतर” तथा जन का अर्थ है “जीवात्मा”। अतः प्रत्येक व्यक्ति पुरञ्जन है। प्रत्येक जीवात्मा अपने शरीर का राजा माना जा सकता है, क्योंकि जीवात्मा को अपनी इच्छानुसार शरीर का उपभोग करने की छूट है। वह अपने शरीर को सामान्यतः इन्द्रियतृप्ति में लगाता है, क्योंकि जिसे देहात्मबुद्धि प्राप्त है, वह इन्द्रियों की सेवा को ही जीवन का चरम लक्ष्य समझता है। यह कर्मकाण्ड विधि है। जिसे आन्तरिक ज्ञान नहीं है, जो यह नहीं जानता कि वह वास्तव में शरीर के भीतर का जीवात्मा है और जो इन्द्रियों के आदेशों का ही पालन करता है, वह भौतिकतावादी है। ऐसा व्यक्ति जो मात्र इन्द्रियतृप्ति में रुचि रखता है पुरञ्जन कहलाता है। चूँकि ऐसा व्यक्ति अपनी इन्द्रियों का उपभोग अपनी सनक के अनुसार करता है, अतः उसे राजा भी कहा जा सकता है। एक गैर जिम्मेदार राजा अपने राजसी पद को अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति मानकर इन्द्रियतृप्ति के हेतु अपने कोष का दुरुपयोग करने लगता है।

बृहच्छ्रवाः शब्द भी महत्त्वपूर्ण है। *छ्रवः* शब्द का अर्थ है “यश”। जीवात्मा अत्यन्त प्राचीन काल से विख्यात है जैसाकि *भगवद्गीता* (२.२०) में कहा गया है—*न जायते म्रियते वा*—“जीवात्मा न कभी उत्पन्न होता है और न मरता है।” शाश्वत होने से, जीवात्मा के कर्म भी शाश्वत हैं, भले ही वह उन्हें विभिन्न शरीरों में सम्पन्न करे। *न हन्यते हन्यमाने शरीरे*—“इस शरीर का विनाश हो जाने पर भी वह मरता नहीं।” इस प्रकार जीवात्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में देहान्तर करता है और विभिन्न कर्म करता रहता है। प्रत्येक शरीर में जीवात्मा न जाने कितने कार्य करता है। कभी वह वीर बनता है—जैसे हिरण्यकशिपु तथा कंस या कि आधुनिक युग में नैपोलियन या हिटलर। ऐसे पुरुषों के कार्य सचमुच महान् होते हैं, किन्तु उनके शरीर का नाश होते ही सभी कुछ नष्ट हो जाता है। केवल उनका नाम रह जाता है। अतः जीवात्मा को *बृहच्छ्रवाः* कहा जा सकता है; वह नाना प्रकार के कार्यों के फलस्वरूप विख्यात हो सकता है। तो भी उसके एक मित्र होता है, जिसे वह नहीं जानता। भौतिकतावादी पुरुष यह नहीं जानते कि परमात्मा रूप में ईश्वर प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में विद्यमान है। यद्यपि परमात्मा जीवात्मा के निकट मित्र रूप में आसीन रहता है, किन्तु जीवात्मा उसे नहीं जान पाता। फलस्वरूप उसे *अविज्ञात-सखा* कहा गया है, जिसका अर्थ है “जिसके एक अज्ञात मित्र है।” *अविज्ञात-चेष्टितः* शब्द भी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि जीवात्मा को परमात्मा के निर्देशानुसार कठिन श्रम करना पड़ता है और वह प्राकृतिक नियमों के द्वारा संचालित होता है। तो भी वह अपने को ईश्वर तथा प्रकृति के कठोर नियमों से स्वतंत्र मानता है। *भगवद्गीता* (२.२४) में कहा गया है—

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥

“यह व्यष्टि आत्मा अटूट तथा अघुलनशील है। न तो इसे जलाया जा सकता है न सुखाया जा सकता है। यह नित्य, सर्वव्यापी, अपरिवर्तनशील, अचर तथा सनातन (शाश्वत) है।”

जीवात्मा सनातन (शाश्वत) है। चूँकि इसे न तो किसी हथियार से मारा जा सकता है, न अग्नि से जलाया जा सकता है, न जल से भिगोया जा सकता है, न वायु से सुखाया जा सकता है, अतः इसे भौतिक प्रतिक्रियाओं से निर्लिप्त माना गया है। यद्यपि वह शरीर बदलता रहता है, किन्तु उस पर भौतिक परिस्थितियों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह भौतिक परिस्थितियों में रहकर अपने मित्र

परमात्मा के आदेशानुसार कार्य करता रहता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (१५.१५) में कहा गया है—

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।

“मैं प्रत्येक जीव के हृदय में स्थित हूँ और मुझी से स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति उत्पन्न हैं।” इस प्रकार भगवान् परमात्मा रूप में प्रत्येक प्राणी के हृदय में स्थित है और जीवात्मा जिस दिशा में कार्य करना चाहता है उसे वैसे ही निर्देशित करता है। जीवात्मा को यह पता नहीं है कि इस जन्म में तथा विगत जन्मों में भगवान् उसे सभी प्रकार की इच्छाएँ पूरी करने का अवसर प्रदान करता रहा है। भगवान् की स्वीकृति के बिना कोई भी इच्छा पूरी नहीं हो सकती। भगवान् द्वारा प्रदत्त समस्त सुविधाओं के प्रति बद्धजीव अचेत रहता है।

सोऽन्वेषमाणः शरणं बभ्राम पृथिवीं प्रभुः ।

नानुरूपं यदाविन्ददभूत्स विमना इव ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

सः—वह राजा पुरञ्जन; अन्वेषमाणः—खोजता हुआ; शरणम्—आश्रय; बभ्राम—घूमा; पृथिवीम्—सम्पूर्ण पृथ्वीलोक पर; प्रभुः—स्वतंत्र स्वामी बनने के लिए; न—कभी नहीं; अनुरूपम्—इच्छानुकूल, उपयुक्त; यदा—जब; अविन्दत्—पा सका; अभूत्—हुआ; सः—वह; विमनाः—खिन्न; इव—सदृश।

राजा पुरञ्जन अपने रहने के लिए उपयुक्त स्थान खोजने लगा और इस तरह वह सारा संसार घूम आया। फिर भी कड़ी दौड़-धूप के बाद भी उसे अपनी इच्छा के अनुकूल कोई स्थान नहीं मिला। अन्त में वह अत्यन्त खिन्न और निराश हो उठा।

तात्पर्य : पुरञ्जन का भ्रमण ठीक वैसा ही था जैसाकि आज के हिप्पियों का। सामान्यतः ये हिप्पी उच्चकुल के तथा बड़े बाप की सन्तानें होते हैं। ऐसा नहीं है कि वे सदैव निर्धन ही रहे हों। वे किसी न किसी तरह अपने धनी माता-पिता के आश्रय को त्याग कर सारे विश्व भर में घूमते रहते हैं। जैसाकि इस श्लोक में उल्लेख किया गया है, जीवात्मा प्रभु बनना चाहता है। प्रभु का अर्थ है “स्वामी” किन्तु वस्तुतः जीवात्मा स्वामी नहीं होता, वह तो ईश्वर का नित्य दास है। जब जीवात्मा भगवान् श्रीकृष्ण की शरण त्याग कर स्वतंत्र रूप से प्रभु बनना चाहता है, तो वह सारी सृष्टि का चक्कर लगाता है। जीवन की चौरासी लाख योनियाँ हैं और इस सृष्टि में अरबों-खरबों लोक हैं। जीवात्मा इन समस्त योनियों तथा विभिन्न लोकों में भटकता रहता है और वह राजा पुरञ्जन के समान है, जिसने अपने अनुकूल स्थान की खोज करने के लिए सारे विश्व का भ्रमण किया था।

श्री नरोत्तमदास ठाकुर के गीत की पंक्तियाँ हैं—*कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड, केवल विषेर भाण्ड*—
 “कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड के पथ विष के मजबूत बर्तन के तुल्य हैं।” *अमृत बलिया येबा खाय, नाना योनि सदा फिरे*—“जो धोखे से इस विष को अमृत समझ कर पीता है, वह विभिन्न योनियों में घूमता रहता है।” *कदर्य भक्षण करे*—“और वह अपने शरीर के अनुसार सभी प्रकार की घृणित वस्तुएँ खाता है।” उदाहरणार्थ, जब जीवात्मा शूकर का शरीर धारण करता है, तो वह विष्टा खाता है। जब वह कौवे के रूप में रहता है, तो सभी प्रकार का मल, यहाँ तक कि पीब तथा मज्जा भी खाता है और प्रसन्न होता है। इस प्रकार नरोत्तमदास ठाकुर यह इंगित करते हैं कि जीवात्मा विभिन्न शरीरों में भ्रमण करता और कुत्सित से कुत्सित पदार्थ खाता रहता है और जब वह अन्ततः सुखी नहीं हो पाता तो या तो खिन्न रहने लगता है या फिर हिप्पी बन जाता है।

अतः इस श्लोक में कहा गया है कि राजा को कहीं भी कोई उपयुक्त स्थान नहीं मिल पाया (*न अनुरूपम्*)। इसका कारण यह है कि किसी भी योनि में तथा संसार के किसी भी लोक में जीवात्मा सुखी नहीं रह सकता क्योंकि इस संसार की प्रत्येक वस्तु आत्मा के अनुकूल नहीं है। जैसाकि इस श्लोक में कहा गया है, जीवात्मा स्वतंत्र होकर प्रभु बनना चाहता है, किन्तु ज्योंही वह इस विचार को अपने मन से निकाल देता है और ईश्वर अर्थात् श्रीकृष्ण का दास बन जाता है, तो वह तुरन्त सुखी हो जाता है। इसीलिए श्रील भक्तिविनोद ठाकुर गाते हैं—*मिछे मायार वशे, याच्छ भेसे, खाच्छ हाबुडुबु भाइ*—“हे जीव! तुम माया की तरंगों में क्यों बहे जा रहे हो?” *भगवद्गीता* (१८.६१) में कहा गया है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥

“हे अर्जुन! परमेश्वर प्रत्येक प्राणी के हृदय में स्थित है और उन सभी जीवों का निर्देशन कर रहा है, जो माया रूपी यंत्र पर आरूढ़ हैं।”

जीवात्मा शरीर रूपी यंत्र द्वारा अनेक योनियों में से होकर न जाने कितने-कितने लोकों में ले जाया जाता है। इसीलिए भक्तिविनोद ठाकुर जीवात्मा से पूछते हैं कि उसे क्यों इन शारीरिक यंत्रों द्वारा इतनी भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में ले जाया जा रहा है। उनका उपदेश है कि कृष्ण की शरण में जाने से माया

की तरंगों को पार किया जा सकता है— जीव कृष्णदास, ए विश्वास, कर्ले त'आर दुःख नाइ। ज्योंही कृष्ण से हमारा साक्षात्कार हो जाता है, भगवान् आदेश देते हैं कि—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

“सभी प्रकार के धर्मों को छोड़कर एकमात्र मेरी शरण में आओ। मैं तुम्हें सारे पापकर्मों से मुक्त कर दूँगा। डरो नहीं। (भगवद्गीता १८.६६)।

इस प्रकार हम तुरन्त ही एक शरीर से दूसरे में और एक लोक से दूसरे लोक में विचरण करने की झंझट से मुक्त हो जाते हैं। श्री चैतन्य महाप्रभु कहते हैं— ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान् जीव (चैतन्य-चरितामृत, मध्य १९.१५१)। यदि कोई भ्रमण करता हुआ जीवात्मा इतना भाग्यशाली हुआ कि भक्तों की संगति कर सके और कृष्णभावनाभावित हो सके तो वास्तव में यहीं से उसका असली जीवन प्रारम्भ हो जाता है। कृष्णभावनामृत-आन्दोलन सभी भटकती हुई जीवात्माओं को श्रीकृष्ण की शरण में जाने का तथा इस प्रकार सुखी बनने का अवसर प्रदान करता है।

इस श्लोक के विमना इव शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इस भौतिक जगत में स्वर्ग का राजा इन्द्र भी चिन्ता से पूर्ण रहता है। जहाँ ब्रह्मा तक चिन्तित हों वहाँ इस लोक के सामान्य प्राणियों का क्या कहना? भगवद्गीता (८.१६) भी पुष्टि करती है— आब्रह्म भुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन—“इस भौतिक जगत में सर्वोच्च लोक से लेकर निम्नतम लोक तक—ये सभी दुख के आगार हैं, जहाँ जन्म तथा मृत्यु बारम्बार होते रहते हैं।” इस जगत में जीवात्मा कभी सन्तुष्ट नहीं होता। यहाँ तक कि ब्रह्मा, इन्द्र या चन्द्र का पद प्राप्त करके भी मनुष्य चिन्तित रहता है, क्योंकि वह इस संसार को सुख का स्थान मानता है।

न साधु मेने ताः सर्वा भूतले यावतीः पुरः ।

कामान्कामयमानोऽसौ तस्य तस्योपपत्तये ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; साधु—अच्छा; मेने—सोचा था; ताः—उनको; सर्वाः—सब; भू-तले—इस पृथ्वी पर; यावतीः—सभी प्रकार के; पुरः—आवास स्थान; कामान्—इन्द्रियभोग के साधन; कामयमानः—इच्छा करते हुए; असौ—वह राजा; तस्य—उसका; तस्य—उसका; उपपत्तये—प्राप्त करने के लिए।

राजा पुरञ्जन की इन्द्रियभोग की लालसाएँ असीम थीं, अतः वह सारे संसार में ऐसा स्थान

खोजने के लिए भ्रमण करता रहा जहाँ उसकी इच्छाएँ पूरी हो सकें। किन्तु हाय! उसे सर्वत्र अभाव की अनुभूति ही प्रतीत हुई।

तात्पर्य : महान् वैष्णव कवि श्रील विद्यापति का गीत है—*तातल सैकते, वारिबिन्दुसम सुतमितरमणीसमाजे*—यहाँ पर समाज, मित्रता तथा प्यार से युक्त भौतिक इन्द्रियतृप्ति की तुलना मरुस्थल में गिरने वाली पानी की बूँद से की गई है। मरुस्थल की प्यास बुझाने के लिए तो अनेक सागरों का जल चाहिए, अतः यदि उसके ऊपर पानी की एक बूँद गिरे तो उससे क्या लाभ? इसी प्रकार जीवात्मा परम पुरुष भगवान् का अंश स्वरूप है जिन्हें *वेदान्त सूत्र* में *आनन्दमयोऽध्यासात्* अर्थात् आनन्द से पूर्ण कहा गया है। किन्तु भगवान् के अंश होने पर जीव पूर्ण भोग (सुख) प्राप्त करने का प्रयास करता है किन्तु भगवान् से पृथक् रहकर वह पूर्ण सुख नहीं पा सकता। भले ही अनेक योनियों में भ्रमण करता हुआ जीवात्मा किसी एक शरीर में किसी प्रकार का भोग प्राप्त कर ले, किन्तु किसी भी भौतिक देह में इन्द्रियों का पूर्ण भोग प्राप्त नहीं किया जा सकता। इस प्रकार पुरञ्जन जीवात्मा विभिन्न देहों में घूमता है, किन्तु भोग के प्रयास में उसे सर्वत्र निराशा हाथ लगती है। दूसरे शब्दों में, पदार्थ से आच्छादित जीवात्मा को किसी भी दशा में इन्द्रियों का पूर्ण भोग प्राप्त नहीं हो सकता। कोई मृग शिकारी द्वारा किये गये संगीतमय नाद में लीन हो सकता है, किन्तु परिणाम क्या होता है—मृत्यु! इसी प्रकार मछली अपनी जीभ की तृप्ति में परम कुशल है, किन्तु जब वह मछुए द्वारा फेंके गये चारे को खा लेती है, तो उसे जान से हाथ धोना पड़ता है। यहाँ तक कि परम बलशाली हाथी भी हथिनी के साथ संभोग करते हुए पकड़े जाने पर अपनी स्वतंत्रता खो देता है। प्रत्येक योनि में जीवात्मा को अपनी इन्द्रियों की तृप्ति के लिए एक शरीर प्राप्त होता है, किन्तु एकसाथ वह सारी इन्द्रियों का भोग नहीं कर सकता। किन्तु मनुष्य जीवन में जीवात्मा को अपनी समस्त इन्द्रियों को तृप्त करने का अवसर मिलता है, किन्तु इन्द्रियतृप्ति के प्रयास में वह इतना तंग आ जाता है कि अन्ततः खिन्न हो उठता है। अपनी इन्द्रियों की तृप्ति के लिए वह जितना अधिक प्रयास करता है, उतना ही अधिक वह उलझता जाता है।

स एकदा हिमवतो दक्षिणेष्वथ सानुषु ।

ददर्श नवभिर्द्वारिभिः पुरं लक्षितलक्षणाम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

सः—उस राजा पुरञ्जन ने; एकदा—एक बार; हिमवतः—हिमालय पर्वत के; दक्षिणेषु—दक्षिणी; अथ—तत्पश्चात्; सानुषु—शिखरों पर; ददर्श—देखा; नवभिः—नौ; द्वारिभिः—द्वारों से युक्त; पुरम्—नगर; लक्षित—दृश्य; लक्षणाम्—सुलक्षणों वाला ।

एक बार, इस प्रकार से विचरण करते हुए, उसने हिमालय पर्वत के दक्षिण में, भारतवर्ष नामक देश में एक नगर देखा जिसमें चारों ओर नौ दरवाजे थे और जो समस्त सुलक्षणों से युक्त था ।

तात्पर्य : हिमालय पर्वत के दक्षिण का भूभाग भारतवर्ष है । जो जीव भारतवर्ष में जन्म लेता है, वह अत्यन्त भाग्यशाली माना जाता है । निस्सन्देह, चैतन्य महाप्रभु ने कहा है—

भारत-भूमि ते हैल मनुष्य-जन्म यार ।

जन्म सार्थक करि 'कर पर-उपकार ॥

(चै. च. आदि ९.४१)

इस प्रकार जो भी भारतभूमि में जन्म लेता है, उसे जीवन की सारी सुविधाएँ प्राप्त होती हैं । वह भौतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति के लिए इन सुविधाओं का उपयोग करके अपने जीवन को सार्थक बना सकता है । जीवन-उद्देश्य प्राप्त करने के पश्चात्, मनुष्य अपने ज्ञान तथा अनुभव को मानव-हित में सारे संसार में वितरित कर सकता है । दूसरे शब्दों में, जो मनुष्य अपने पूर्व-पुण्यों के कारण भारतवर्ष में जन्म लेता है, उसे इस मनुष्य-जीवन को विकसित करने की पूरी सुविधा मिलती है । भारतवर्ष की जलवायु ऐसी है कि कोई भी इसमें भौतिक परिस्थितियों से प्रभावित हुए बिना शान्तिपूर्वक जीवन बिता सकता है । दरअसल, महाराज युधिष्ठिर या भगवान् रामचन्द्र जी के काल में लोग समस्त चिन्ताओं से मुक्त रहते थे । न तो अधिक शीत होती थी, न अधिक गर्मी पड़ती थी । भगवान् रामचन्द्र अथवा महाराज युधिष्ठिर के काल में तीनों प्रकार के ताप (अध्यात्मिक, अधिभौतिक तथा अधिदैविक) थे ही नहीं । किन्तु इस समय, अन्य देशों की तुलना में भारत कृत्रिमतः विक्षुब्ध है । इन सब भौतिक हलचलों के बावजूद इस देश की संस्कृति ऐसी है कि मनुष्य सरलता से जीवन का लक्ष्य अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर सकता है । इस तरह भारतवर्ष में जन्म लेने के लिए मनुष्य को पूर्वजन्म में पुण्य करने होते हैं ।

इस श्लोक का लक्षित-लक्षणाम् शब्द सूचित करता है कि भारतवर्ष में शरीर धारण करना अत्यन्त शुभ है । वैदिक संस्कृति ज्ञानमय है और इस देश में जन्म लेने वाला मनुष्य यहाँ के वैदिक ज्ञान तथा

सांस्कृतिक पद्धति का, जिसे *वर्णाश्रम-धर्म* कहते हैं, लाभ उठा सकता है। आज भी विश्व में भ्रमण करते समय बहुत से ऐसे देश हमारी दृष्टि में आये हैं जहाँ मनुष्यों को सारी भौतिक सुविधाएँ हैं, किन्तु आध्यात्मिक उन्नति के लिए कोई सुविधा नहीं हैं। हमें सर्वत्र या तो सुविधाओं का अभाव मिलता है या एकांगी सुविधाएँ दृष्टिगोचर होती हैं। अंधा चल सकता है, किन्तु देख नहीं सकता और लँगड़ा चल नहीं सकता, किन्तु देख सकता है। *अन्ध-पङ्गु-न्याय*। अंधा व्यक्ति लँगड़े को अपने कंधे पर बिठा सकता है और लँगड़ा आदमी उसे रास्ता बता सकता है। इस प्रकार वे सहयोग से काम चला लेते हैं, किन्तु अलग-अलग वे देखने या चलने का काम ठीक से नहीं कर सकते। इसी प्रकार यह मनुष्य देह आध्यात्मिक जीवन एवं भौतिक सुविधाओं को व्यवस्थित रखने के लिए प्राप्त हुई है। पाश्चात्य देशों में तो विशेष रूप से भौतिक सुविधाएँ उपलब्ध हैं, किन्तु किसी को आध्यात्मिक उन्नति का कोई ज्ञान नहीं है। अनेक लोग आध्यात्मिक ज्ञान के पीछे दीवाने हैं, किन्तु बीच में अनेक ठग आकर उनका धन लेकर उन्हें उल्लू बनाकर चले जाते हैं। सौभाग्यवश कृष्णभावनामृत-आन्दोलन भौतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति के लिए सभी प्रकार की सुविधाएँ प्रदान करता है। इसलिए पाश्चात्य देशों के लोगों को चाहिए कि इस आन्दोलन का लाभ उठाएँ। भारत के गाँव, जो आज भी औद्योगिक शहरों से अछूते हैं, वहाँ कोई चाहे जिस भी अवस्था में हो उस में रह सकता है और आध्यात्मिक उन्नति कर सकता है। इस शरीर को नौ द्वारों से युक्त नगर कहा गया है। ये नौ द्वार हैं—दो नेत्र, दो कान, दो नथुने, एक मुँह, उपस्थ तथा गुदा। जब नवों द्वार स्वच्छ रहें और ठीक से कार्य करें तो समझना चाहिए कि शरीर स्वस्थ है। भारतवर्ष में ग्रामीणों द्वारा ये नौ द्वार स्वच्छ रखे जाते हैं, क्योंकि वे प्रातःकाल जल्दी उठकर नदी या कुएँ में स्नान करते हैं, मन्दिर में जाकर मंगल-आरती करते हैं और हरे कृष्ण महामंत्र का उच्चारण करके प्रसाद ग्रहण करते हैं। इस प्रकार मनुष्य जीवन की प्रत्येक सुविधा का लाभ उठाया जा सकता है। हम पाश्चात्य देशों में अपने संघ के विभिन्न केन्द्रों में इस पद्धति को क्रमशः लागू कर रहे हैं। जो इसका लाभ उठाता है, वह आध्यात्मिक जीवन की ओर अधिकाधिक उन्मुख होता है। इस समय भारतवर्ष की तुलना लँगड़े व्यक्ति से की जा सकती है और पाश्चात्य देशों की अंधे व्यक्ति से। विगत दो हजार वर्षों से भारतवर्ष विदेशी शासकों के अधीन रहा है, जिससे उसकी प्रगति लँगड़ी हो चुकी है। पाश्चात्य देशों में भौतिक ऐश्वर्य की चमक-दमक से लोगों की आँखें अंधी हो चुकी हैं। इस

कृष्णाभावनामृत-आन्दोलन में भारतवर्ष के लँगड़े व्यक्ति तथा पाश्चात्य देश के अंधे व्यक्ति को मिल जाना चाहिए। तब भारत का लँगड़ा मनुष्य पाश्चात्य देश के अंधे वासी की सहायता से चल सकता है और पाश्चात्य देश का अंधा भारत के लँगड़े की सहायता से देख सकता है। संक्षेप में, पाश्चात्य देशों की भौतिक उन्नति तथा भारत की आध्यात्मिक निधि को समस्त मानव समाज की उन्नति के लिए एकसाथ जोड़ दिया जाना चाहिए।

प्राकारोपवनाट्टालपरिखैरक्षतोरणैः ।

स्वर्णरौप्यायसैः शृङ्गैः सङ्कुलां सर्वतो गृहैः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

प्राकार—दीवालें; उपवन—उद्यान; अट्टाल—अटारियाँ, मीनारें; परिखैः—खाइयों से; अक्ष—खिड़कियों; तोरणैः—द्वारों से; स्वर्ण—सोना; रौप्य—चाँदी; अयसैः—लोहे से निर्मित; शृङ्गैः—कंगूरों या शिखरों से; सङ्कुलाम्—खचाखच भरा हुआ; सर्वतः—चारों ओर; गृहैः—घरों से।

वह नगर चारों ओर दीवालों तथा उद्यानों से घिरा था और उसके भीतर मीनारें, नहरें, खिड़कियाँ तथा झरोखे थे। वहाँ के घर सोने, चाँदी तथा लोहे के बने गुम्बदों से अलंकृत थे।

तात्पर्य : शरीर की सुरक्षा के लिए त्वचा की दीवाल होती है। शरीर के रोम उद्यानों के तुल्य हैं तथा नाक तथा मस्तक जैसे उच्चस्थ भाग मीनारों के समान हैं। शरीर में पड़ी हुई झुर्रियाँ खाइयों या नहरों के तुल्य हैं, आँखें झरोखे हैं और पलकें सुरक्षात्मक दरवाजे हैं। तीन प्रकार की धातुएँ—सोना, चाँदी तथा लोहा—ये प्रकृति के तीन गुणों के सूचक हैं। सोना सतोगुण का, चाँदी रजोगुण का तथा लोहा तमोगुण का प्रतीक है। इस शरीर को कभी-कभी तीन तत्त्वों (त्रिधातुओं) से युक्त एक थैला कहा जाता है। ये त्रिधातुएँ हैं—कफ, पित्त तथा वायु। यस्मात्बुद्धिः कुणपे त्रिधातुके। भागवत के अनुसार (१०.८४.१३) जो व्यक्ति कफ, पित्त तथा वात के इस थैले को आत्मा (स्व) मानता है, वह गाय या गधे के तुल्य है।

नीलस्फटिकवैदूर्यमुक्तामरकतारुणैः ।

क्रिप्तहर्म्यस्थलीं दीप्तां श्रिया भोगवतीमिव ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

नील—नीलम; स्फटिक—स्फटिक; वैदूर्य—हीरे; मुक्ता—मोती; मरकत—पन्ना; अरुणैः—लालों से; क्रिप्त—सजा हुआ; हर्म्य-स्थलीम्—राजमहल की फर्शें; दीप्ताम्—दीप्ति युक्त; श्रिया—सौंदर्य से; भोगवतीम्—भोगवती नामक स्वर्ग की नगरी; इव—सदृश।

उस नगर के घरों की फर्शें नीलम, स्फटिक, हीरे, मोती, पन्ना तथा लाल से निर्मित थीं। घरों की कान्ति के कारण यह नगर भोगवती नामक स्वर्गीय नगरी के समान लग रहा था।

तात्पर्य : इस शरीर रूपी नगर की राजधानी हृदय है। जिस प्रकार किसी राज्य की राजधानी में ऊँचे-ऊँचे तथा कान्तिमय प्रासाद रहते हैं, उसी प्रकार हृदय अनेक इच्छाओं तथा विषयभोग की अनेक योजनाओं से पूर्ण होता है। ऐसी योजनाओं की तुलना कभी कभी नीलम, स्फटिक, पन्ना, मोती इत्यादि से की जा सकती है। इस प्रकार हृदय भौतिक सुख की समस्त योजनाओं का केन्द्र बना रहता है।

सभाचत्वररथ्याभिराक्रीडायतनापणैः ।

चैत्यध्वजपताकाभिर्युक्तां विद्रुमवेदिभिः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

सभा—सभा भवन; चत्वर—चौराहे; रथ्याभिः—सड़कों से; आक्रीड-आयतन—द्यूतक्रीड़ा स्थल; आपणैः—दूकानों से; चैत्य—विहार स्थल; ध्वज-पताकाभिः—ध्वज तथा पताकाओं से; युक्ताम्—सुसज्जित; विद्रुम—वृक्षरहित; वेदिभिः—चबूतरों से।

उस नगर में अनेक सभाभवन, चौराहे, सड़कें, खान-पान-गृह, द्यूतक्रीड़ा-स्थल, बाजार, विश्रामालय, झंडियाँ, पताकाएँ तथा सुन्दर उद्यान थे। वह नगर इन सबसे घिरा था।

तात्पर्य : राजधानी का इस प्रकार से वर्णन हुआ है। राजधानी में अनेक सभागार तथा चौराहे, अनेक सड़कें तथा वीथियाँ, द्यूतक्रीड़ा स्थल, बाजार, विश्राम-गृह हुआ करते हैं, जो तरह-तरह की झंडियों तथा पताकाओं से सजे होते हैं। चौराहों में चारों ओर वेदिका स्तम्भ लगे रहते हैं और ये चौराहे वृक्षों से रहित होते हैं। शरीर का हृदय सभागार के समान है, क्योंकि जीवात्मा परमात्मा सहित हृदय के भीतर स्थित रहता है, जैसाकि *भगवद्गीता* (१५.१५) में कहा गया है—*सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*। यह हृदय ही समस्त स्मृति, विस्मृति तथा विचार विमर्ष का केन्द्र होता है। शरीर में आँखें, कान तथा नाक इन्द्रियभोग के आकर्षण-स्थल के तुल्य हैं तथा शरीर के भीतर चलने वाली वायु इधर-उधर जाने वाली सड़कों के तुल्य हैं। शरीर के भीतर तथा स्नायुओं में वायु को नियमित करने की योगविधि *सुषुम्ना* कहलाती है, जिसका अर्थ है मोक्ष का मार्ग। यह शरीर विश्रामालय के तुल्य है, क्योंकि जीवात्मा थककर इस शरीर में ही विश्राम करता है। हथेलियाँ तथा तलवे झंडे तथा झंडियों के तुल्य माने जा सकते हैं।

पुर्यास्तु बाह्योपवने दिव्यद्रुमलताकुले ।
नदद्विहङ्गालिकुलकोलाहलजलाशये ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

पुर्याः—नगर के; तु—तब; बाह्य-उपवने—बाहरी उद्यान में; दिव्य—अत्यन्त सुन्दर; द्रुम—वृक्ष; लता—बेलों; आकुले—से पूरित; नदत्—शब्द करते हुए; विहङ्ग—पक्षी; अलि—भौरा; कुल—समूह; कोलाहल—गुंजार; जल-आशये—सरोवर में।

उस नगर के बाहर एक सुन्दर सरोवर के चारों ओर अनेक सुन्दर वृक्ष तथा लताएँ थीं। उस सरोवर में पक्षियों तथा भौरों के झुंड के झुंड थे, जो सदैव कूजते तथा गुंजार करते थे।

तात्पर्य : चूँकि यह शरीर एक विशाल नगर के तुल्य है, अतः उसमें इन्द्रियभोग के लिए जलाशयों तथा उद्यानों की व्यवस्था होनी चाहिए। शरीर के विभिन्न अंगों में से जो इन्द्रियों को उत्तेजित करने वाले हैं, उनकी चर्चा यहाँ अप्रत्यक्ष रूप से हुई है। चूँकि शरीर में जननेद्रियाँ होती हैं, अतः उम्र आने पर, चाहे नर हो या नारी, कामोत्तेजना उत्पन्न होती है। व्यक्ति जब तक बालक रहता है, सुन्दर स्त्री को देखकर उसके मन में उत्तेजना उत्पन्न नहीं होती। इन्द्रियों के होते हुए भी जब तक परिपक्व अवस्था नहीं होती, कामोत्तेजना उत्पन्न नहीं होती। यहाँ पर कामोत्तेजना उत्पन्न करने वाली अनुकूल परिस्थितियों की उपमा सुन्दर उद्यान से दी गई है। जब कोई स्त्री को देखता है, तो सहज ही कामोत्तेजना उत्पन्न होती है। कहा जाता है कि यदि मनुष्य एकान्त स्थान में स्त्री को देखे और उसका मन उत्तेजित न हो, तो वह ब्रह्मचारी समझा जाता है। किन्तु ऐसा कर पाना प्रायः असम्भव है। काम वासना इतनी प्रबल होती है कि स्त्री के दर्शन, स्पर्श या बोलने से या उसका विचार आने जैसे ऐसे कई कारणों से मनुष्य उत्तेजित हो उठता है। फलतः ब्रह्मचारी या संन्यासी को स्त्री के संग में, विशेष रूप से एकान्त में रहने के लिए वर्जित किया जाता है। शास्त्रों का मत है कि स्त्री से एकान्त में बातें नहीं करनी चाहिए, भले ही वह अपनी पुत्री, बहिन या माता ही क्यों न हो। कामोत्तेजना इतनी प्रबल होती है कि विद्वान् से विद्वान् पुरुष ऐसी परिस्थितियों में उत्तेजित (कामुक) हो उठता है। यदि ऐसी स्थिति है, तो भला सुन्दर उद्यान में सुन्दर तरुणी को देखकर कोई कैसे शान्त रह सकता है ?

हिमनिर्झरविप्रुष्पत्कुसुमाकरवायुना ।
चलत्प्रवालविटपनलिनीतटसम्पदि ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

हिम-निर्झर—हिमाच्छादित पर्वत प्रपातों से; विप्रुट्-मत्—जलकणों को ले जाकर; कुसुम-आकर—वासन्ती; वायुना—वायु से; चलत्—हिलते हुए; प्रवाल—शाखाएँ; विटप—वृक्ष; नलिनी-तट—कमलिनी से भरे सरोवर के तट पर; सम्पदि—ऐश्वर्यवान्।

सरोवर के तट पर खड़े हुए वृक्षों की शाखाएँ उन जलकणों को ग्रहण कर रही थीं जो हिमाच्छादित पर्वत से गिरने वाले झरनों से वासन्ती वायु द्वारा ले जाये जा रहे थे।

तात्पर्य : इस श्लोक में हिम-निर्झर शब्द विशेष रूप से उल्लेखनीय है। जलप्रपात (झरना) रस (सम्बन्ध) का द्योतक है। शरीर में अनेक प्रकार के रस हैं। इनमें से सर्वश्रेष्ठ रस आदि-रस (शृंगार रस) कहलाता है। जब आदि-रस कामदेव द्वारा प्रेरित वासन्ती वायु के सम्पर्क में आता है, तो यह उत्तेजित हो उठता है। दूसरे शब्दों में, ये सब रूप, रस, गन्ध, शब्द तथा स्पर्श के प्रतिरूप हैं। वायु स्पर्श है, प्रपात रस (स्वाद) है, वासन्ती वायु (कुसुमाकर) सुगन्धि है। ये विविध भोग जीवन को मोहक बनाते हैं और हम भौतिक संसार के वशीभूत हो जाते हैं।

नानारण्यमृगव्रातैरनाबाधे मुनिव्रतैः ।

आहूतं मन्यते पान्थो यत्र कोकिलकूजितैः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

नाना—विभिन्न; अरण्य—वन; मृग—पशु; व्रातैः—समूहों से; अनाबाधे—अहिंसा के मामले में; मुनि-व्रतैः—मुनियों के तुल्य; आहूतम्—मानो बुलाये जा रहे हों; मन्यते—सोचता है; पान्थः—यात्री, पथिक; यत्र—जहाँ; कोकिल—कोयल के; कूजितैः—कू-कू करने से।

ऐसे वातावरण में वन के पशु भी मुनियों के समान ही अहिंसक एवं ईर्ष्याहीन हो गये थे, अतः वे किसी पर आक्रमण नहीं करते थे। यही नहीं, सर्वत्र कोयलें कूज रही थीं। उस रास्ते से निकलने वाले किसी भी पथिक को मानो उस सुन्दर उद्यान में विश्राम करने का निमंत्रण दिया जा रहा हो।

तात्पर्य : स्त्री तथा बच्चों से भरापूरा परिवार वन के शान्त वातावरण के सदृश है। बच्चों की तुलना अहिंसक पशुओं से की गई है। कभी-कभी स्त्रियों तथा बच्चों को स्वजनाख्य-दस्यु कहा जाता है, जिसका अर्थ है कि स्वजनों के नाम से लुटेरे। मनुष्य अत्यन्त परिश्रम से धन कमाता है, किन्तु उसकी पत्नी तथा बच्चों द्वारा उसका धन उसी प्रकार हथिया लिया जाता जिस प्रकार जंगल के रास्ते से जाने वाले व्यक्ति को चोर तथा लुटेरे लूट लेते हैं। फिर भी परिवार के भीतर पत्नी तथा बच्चों की यह धमा-चौकड़ी पारिवारिक उद्यान में कोयल की कूक के समान प्रतीत होती है। ऐसे वातावरण द्वारा आमंत्रित

किया जाकर मनुष्य जो आनन्दमय पारिवारिक जीवन बिताता है अपने परिवार को हर हालपर अपने साथ रखना चाहता है।

यदृच्छयागतां तत्र ददर्श प्रमदोत्तमाम् ।

भृत्यैर्दशभिरायान्तीमेकैकशतनायकैः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

यदृच्छया—अचानक, बिना किसी प्रयोजन के; आगताम्—आयी हुई; तत्र—वहाँ; ददर्श—देखा; प्रमदा—एक स्त्री; उत्तमाम्—अत्यन्त सुन्दरी; भृत्यैः—सेवकों से घिरी; दशभिः—दस; आयान्तीम्—आगे आती हुई; एक-एक—प्रत्येक; शत—सौ; नायकैः—मुखिया, पति के साथ।

उस अद्भुत उद्यान में विचरण करते हुए राजा पुरञ्जन ने अचानक एक सुन्दर स्त्री देखी जो अनायास ही चली आ रही थी। उसके साथ दस नौकर थे और प्रत्येक नौकर के साथ सैकड़ों पत्नियाँ थीं।

तात्पर्य : शरीर की उपमा सुन्दर उद्यान से दी जा चुकी है। युवावस्था में कामवासना जाग्रत होती है और स्त्री के साथ सहवास करने के लिए बुद्धि अपनी-अपनी कल्पना के अनुसार उन्मुख होती है। प्रत्यक्ष रूप से न सही, बुद्धि या कल्पना के द्वारा प्रत्येक स्त्री या पुरुष विपरीत लिंग की खोज में रहता है। बुद्धि मन को प्रेरित करती है और मन दसों इन्द्रियों को वश में करता है। इनमें से पाँच तो ज्ञानेन्द्रियाँ हैं और पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। प्रत्येक इन्द्रिय न जाने कितनी इच्छाएँ पूरा करने की चाह रखती है। ऐसी स्थिति है इस शरीर की तथा शरीर के स्वामी पुरञ्जन की, जो शरीर के भीतर बसा है।

पञ्चशीर्षाहिना गुप्तां प्रतीहारेण सर्वतः ।

अन्वेषमाणामृषभमप्रौढां कामरूपिणीम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

पञ्च—पाँच; शीर्ष—सिर; अहिना—सर्प द्वारा; गुप्ताम्—रक्षित; प्रतीहारेण—अंगरक्षक द्वारा; सर्वतः—चारों ओर; अन्वेषमाणाम्—खोज करती हुई; ऋषभम्—पति; अप्रौढाम्—भोली-भाली, किशोरी; काम-रूपिणीम्—अत्यन्त आकर्षक।

वह स्त्री पाँच फनों वाले एक सर्प द्वारा चारों ओर से रक्षित थी। वह अत्यन्त सुन्दरी तथा तरुणी थी और उपयुक्त पति खोजने के लिए अत्यधिक उत्सुक प्रतीत हो रही थी।

तात्पर्य : जीव के शरीर के भीतर प्राण-शक्ति के रूप में पाँच प्रकार के वायु—प्राण, अपान, व्यान, समान तथा उदान—कार्य करते हैं। प्राण की तुलना सर्प से की गई है, क्योंकि वह केवल हवा पीकर

रह सकता है। वायु द्वारा ले जाये गये प्राण को प्रतिहार या अंगरक्षक के रूप में वर्णित किया गया है। प्राण के बिना कोई एक पल भी जीवित नहीं रह सकता। दरअसल, सारी इन्द्रियाँ प्राण के अधीन कार्य करती हैं।

वह स्त्री, जो बुद्धि की प्रतीक है, पति की तलाश में थी। इससे पता चलता है कि बुद्धि चेतना के बिना कार्य नहीं कर सकती। सुन्दर स्त्री जब तक उपयुक्त पति द्वारा रक्षित नहीं होती, तब तक वह व्यर्थ है। बुद्धि को सदैव नवीन रहना चाहिए, इसीलिए यहाँ *अप्रौढाम्* (तरुणी) शब्द प्रयुक्त हुआ है। भौतिक भोग का अर्थ है रूप, रस, गन्ध, शब्द तथा स्पर्श के लिए बुद्धि का प्रयोग।

सुनासां सुदतीं बालां सुकपोलां वराननाम् ।

समविन्यस्तकर्णाभ्यां बिभ्रतीं कुण्डलश्रियम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

सु-नासाम्—अत्यन्त सुन्दर नाक; सु-दतीम्—अत्यन्त सुन्दर दाँत; बालाम्—तरुणी; सु-कपोलाम्—सुन्दर मस्तक; वर-आननाम्—सुन्दर मुख; सम—समान रूप से; विन्यस्त—व्यवस्थित; कर्णाभ्याम्—दोनों कान; बिभ्रतीम्—चमचमाते हुए; कुण्डल-श्रियम्—सुन्दर कुण्डलों (बालियों) वाली।

उस स्त्री के नाक, दाँत तथा मस्तक सभी अतीव सुन्दर थे। उसके कान भी समान रूप से सुन्दर थे और चमचमाते कुण्डलों से सुशोभित थे।

तात्पर्य : बुद्धि का शरीर इन्द्रियतृप्ति की वस्तुओं को भोगता है, जो उसे ऊपर से ढके हैं—यथा गंध, दृष्टि तथा ध्वनि। *सुनासाम्* (सुन्दर नाक) शब्द गंध के द्वारा ज्ञान प्राप्त करने की इन्द्रिय को सूचित करता है। इसी प्रकार स्वाद के द्वारा ज्ञान प्राप्त करने का यंत्र मुख है, क्योंकि किसी वस्तु को चबा कर तथा जीभ से स्पर्श करके उसका स्वाद जाना जा सकता है। *सुकपोलाम्* (सुन्दर मस्तक) उस विमल मस्तिष्क (मन) का सूचक है, जो वस्तुओं को उसी रूप में जानने में समर्थ है। बुद्धि द्वारा सारी वस्तुएँ व्यवस्थित की जा सकती हैं। दोनों कानों में पहने गये कुण्डल बुद्धि की ही करामात हैं। इस प्रकार यहाँ पर ज्ञान प्राप्त करने की विधियों का वर्णन-आलंकारिक ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

पिशङ्गनीवीं सुश्रोणीं श्यामां कनकमेखलाम् ।

पद्भ्यां क्वणद्भ्यां चलन्तीं नूपुरैर्देवतामिव ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

पिशङ्ग—पीला; नीवीम्—वस्त्र; सु-श्रोणीम्—सुन्दर कमर; श्यामाम्—श्याम रंग की; कनक—सुनहली; मेखलाम्—करधनी; पद्भ्याम्—पाँवों से; क्वणद्भ्याम्—शब्द करती हुए; चलन्तीम्—चलते हुए; नूपुरैः—नूपुरों से; देवताम्—स्वर्ग का वासी; इव—सदृश।

उस स्त्री की कमर तथा नितम्ब अत्यन्त सुन्दर थे। वह पीली साड़ी और सुनहरी करधनी पहने थी। चलते समय उसके नूपुर खनक रहे थे। वह ऐसी प्रतीत हो रही थी मानो स्वर्ग की निवासिनी हो।

तात्पर्य : इस श्लोक में उन्नत नितम्बों तथा उरोजों वाली स्त्री को, जो आकर्षक साड़ी पहने हो तथा आभूषणों से सजी हो, देखकर मन में जो आह्लाद उत्पन्न होता है उसी को व्यक्त किया गया है।

स्तनौ व्यञ्जितकैशोरौ समवृत्तौ निरन्तरौ ।

वस्त्रान्तेन निगूहन्तीं व्रीडया गजगामिनीम् ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

स्तनौ—दो उरोजों; व्यञ्जित—सूचित करने वाले; कैशोरौ—किशोरावस्था; सम-वृत्तौ—समान गोलाकार; निरन्तरौ—सटे हुए, अत्यन्त निकट स्थित; वस्त्र-अन्तेन—साड़ी के आँचल से; निगूहन्तीम्—ढकने का प्रयास करती हुई; व्रीडया—लज्जावश; गज-गामिनीम्—हाथी के समान चलने वाली।

स्त्री अपनी साड़ी के अञ्जल से अपने समवर्तुल एवं सटे हुए स्तनों को ढकने का प्रयास कर रही थी। वह हाथी के समान चलती हुई लज्जावश अपने स्तनों को बारम्बार ढकने का प्रयास कर रही थी।

तात्पर्य : दोनों स्तन राग तथा द्वेष के प्रतीक हैं। भगवद्गीता (३.३४) में राग तथा द्वेष के लक्षणों का वर्णन हुआ है—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।

तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ।

“देहधारी जीवों द्वारा इन्द्रिय-पदार्थों के प्रति आकर्षण तथा विकर्षण का अनुभव होता है, किन्तु मनुष्य को इन्द्रियों तथा इन्द्रिय-पदार्थों (विषयों) के वशीभूत नहीं होना चाहिए, क्योंकि ये आत्म-साक्षात्कार के मार्ग में अवरोधक हैं।”

राग तथा द्वेष के ये प्रतिनिधि आध्यात्मिक जीवन में प्रगति के लिए सर्वथा प्रतिकूल हैं। मनुष्य को स्त्री के स्तनों के प्रति आकृष्ट नहीं होना चाहिए। महान् सन्त शंकराचार्य ने स्त्री के स्तनों को रक्त तथा पेशियों का समुच्चय माना है, अतः उन्नत स्तनों के अग्रभाग की मोहक शक्ति से आकृष्ट नहीं होना

चाहिए। ये माया के दूत हैं, जो पुरुष को शिकार बनाते हैं। चूँकि स्तन समान रूप से आकर्षक होते हैं, अतः उन्हें *समवृत्तौ* कहा गया है। कामोत्तेजना वृद्ध पुरुष के भी मन में मृत्यु पर्यन्त रहती है। इस उत्तेजना से मुक्ति पाने के लिए यामुनाचार्य के समान अत्युच्च आध्यात्मिक चेतना होनी चाहिए। उन्होंने कहा है—

यदवधि मम चेतः कृष्णपादारविन्दे

नवनवरसधामन्युद्यतं रन्तुमासीत् ।

तदवधि बत नारीसङ्गमे स्मर्यमाणे

भवति मुखविकारः सुष्ठु निष्ठावनं च ।

“चूँकि मैं श्रीकृष्ण की दिव्य प्रेमाभक्ति में निरन्तर मग्न रहता हूँ, जिससे मुझे नित नूतन आनन्द प्राप्त होता है, अतः जब भी मैं काम (विषय) के आनन्द के विषय में सोचता हूँ तो इस विचार पर मैं थू-थू करता हूँ और मेरे होंठ बुरे स्वाद से अकड़ जाते हैं।” जो आध्यात्मिक रूप से आगे बढ़ा है, वह मांस तथा रुधिर के लोथड़ों से, जो नारी के स्तनस्वरूप हैं, आकृष्ट नहीं होता। *निरन्तरौ* शब्द भी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यद्यपि स्तन अलग-अलग स्थान पर स्थित रहते हैं, किन्तु वे एक-सा प्रभाव दिखाते हैं। हमें राग तथा द्वेष में कोई अन्तर नहीं मानना चाहिए। जैसाकि *भगवद्गीता* (३.३७) में कहा गया है—ये दोनों रजोगुण से उत्पन्न हैं (*काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः*) ।

निगूहन्तीम् (ढकने का प्रयत्न करती हुई) शब्द सूचित करता है कि भले ही कोई काम, क्रोध, लोभ आदि से रंजित क्यों न हो, किन्तु कृष्णभक्ति (चेतना) से ये सारे नष्ट हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में, काम (विषय) का उपयोग कृष्ण की सेवा के लिए किया जा सकता है। काम से प्रेरित सामान्य कर्मि अहर्निश श्रम करता है; इसी प्रकार भक्त भी कृष्ण को प्रसन्न करने के लिए अहर्निश काम कर सकता है। जिस प्रकार कर्मि काम-क्रोध की तुष्टि के लिए कठिन श्रम करते हैं भक्तों को चाहिए कि कृष्ण को प्रसन्न करने के लिए उसी प्रकार कार्य करें। इसी प्रकार क्रोध का उपयोग भी कृष्ण की सेवा में किया जा सकता है। उसका उपयोग अभक्त असुरों पर किया जाता है। हनुमान जी ने अपने क्रोध का ऐसा ही उपयोग किया। वे भगवान् रामचन्द्र के महान् भक्त थे। उन्होंने अभक्त असुर रावण के राज्य में अग्नि लगाकर अपने क्रोध का सदुपयोग किया। इस प्रकार काम का उपयोग श्रीकृष्ण को प्रसन्न करने और

क्रोध का उपयोग असुरों को दण्ड देने के लिए किया जा सकता है। जब इन दोनों का उपयोग श्रीकृष्ण की सेवा में किया जाता है, तो इनकी भौतिक महत्ता जाती रहती है और इन्हें आध्यात्मिक महत्त्व प्राप्त हो जाता है।

तामाह ललितं वीरः सव्रीडस्मितशोभनाम् ।

स्निग्धेनापाङ्गपुङ्खेन स्पृष्टः प्रेमोद्भ्रमद्भुवा ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

ताम्—उसको; आह—सम्बोधित किया; ललितम्—अत्यन्त धीमे से; वीरः—वीर ने; स-व्रीड—लज्जा से युक्त; स्मित—हँसते हुए; शोभनाम्—अत्यन्त सुन्दर; स्निग्धेन—काम वासना से; अपाङ्ग-पुङ्खेन—चितवन के तीर से; स्पृष्टः—इस प्रकार बिधा हुआ; प्रेम-उद्भ्रमत्—प्रेम उत्पन्न करने वाली; भुवा—भौहों से।

वीर पुरञ्जन उस सुन्दर रमणी की भौहों तथा मुख की मुसकान से अत्यधिक आकृष्ट हुआ और उसके कामवासना रूपी तीरों से तुरन्त बिंध गया। जब वह लजाती हुई हँसी तो पुरञ्जन को और भी सुन्दर लगी, अतः वीर होते हुए भी वह उसको सम्बोधित करने से अपने को रोक न सका।

तात्पर्य : प्रत्येक जीव दो तरह से वीर होता है। जब वह माया का शिकार होता है, तो वह भौतिक जगत में महान् वीर की तरह महान् नेता, राजनीतिज्ञ, व्यापारी, उद्योगपति इत्यादि की तरह कार्य करता है और उसके वीरतापूर्ण कार्यों से सभ्यता की प्रगति होती है। वह इन्द्रियों के स्वामी, गोस्वामी के रूप में भी वीर बन सकता है। भौतिक कार्यकलाप तो झूठे वीरतापूर्ण कार्य हैं, जबकि भौतिक विषयों से इन्द्रियों को मोड़ना महान् वीरता है। कोई भौतिक जगत में कितना ही बड़ा वीर क्यों न हो वह स्त्रियों के मांस एवं रक्त के पिंड रूपी स्तनों से तुरन्त पराजित हो जाता है। इस संसार में भौतिक कार्यों के इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण हैं—जैसे रोम का वीर अन्टोनी, जो क्लियोपात्रा की सुन्दरता पर मोहित हो गया। इसी प्रकार महाराष्ट्र की राजनीति में भारतीय वीर बाजीराव एक स्त्री का शिकार होकर पराजित हो गया। इतिहास से पता चलता है कि पहले के राजनीतिज्ञ सुन्दरियों का उपयोग प्रशिक्षित विषकन्या के रूप में किया करते थे। इन सुन्दरियों के शरीर में जीवन के प्रारम्भ से विष का टीका लगाया जाता था, जिससे वे विष के प्रभाव से प्रतिरक्षित हो जाती थी और स्वयं इतनी विषैली कि, यदि वे किसी पुरुष का चुम्बन कर लें तो वह मर जाए। इन विषकन्याओं का उपयोग शत्रु को चुम्बन मात्र से मारने के लिए किया जाता था। इस प्रकार मानव इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते

हैं जब वीरों को स्त्रियों के द्वारा ही ध्वस्त कर दिया गया। श्रीकृष्ण का अंश होने से, जीव निश्चय ही महान् वीर होता है, किन्तु अपनी इसी एक दुर्बलता के कारण वह भौतिक शरीर के प्रति आकृष्ट होता है—

कृष्ण बहिर्मुख हजा भोग-वाञ्छा करे।

निकटस्थ माया तारे जापटिया धरे।

प्रेमविवर्त में कहा गया है कि जब जीवात्मा प्रकृति को भोगना चाहता है, तो माया उस पर तुरन्त झपट्टा मारती है। जीवात्मा को जबर्दस्ती इस भौतिक जगत में नहीं भेजा जाता। वह स्त्री-आकर्षण के कारण स्वेच्छा से आता है। प्रत्येक जीव को छूट है कि वह प्रकृति द्वारा आकृष्ट हो या फिर वीर की तरह आकर्षण का विरोध करे। यह केवल जीव द्वारा आकर्षित होने या न होने का प्रश्न है। माया के सम्पर्क में जबर्दस्ती आने का प्रश्न ही नहीं उठता। जो प्रकृति के आकर्षण का प्रतिरोध करके स्थिर बना रहता है, वह वास्तव में वीर है और गोस्वामी कहलाने का पात्र है। इन्द्रियों का स्वामी बने बिना कोई गोस्वामी नहीं हो सकता। जीव इस जगत में इन दोनों स्थितियों में से एक का चयन कर सकता है। चाहे तो वह इन्द्रियों का दास बन सकता है अथवा उनका स्वामी बन सकता है। इन्द्रियों का दास बनकर मनुष्य महान् भौतिक वीर बन सकता है और इन्द्रियों का स्वामी बनकर वह आध्यात्मिक वीर अथवा गोस्वामी बन सकता है।

का त्वं कञ्जपलाशाक्षि कस्यासीह कुतः सति ।

इमामुप पुरीं भीरु किं चिकीर्षसि शंस मे ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

का—कौन; त्वम्—तुम; कञ्ज-पलाश—कमल की पंखड़ियों के समान; अक्षि—आँखें; कस्य—किसकी; असि—हो; इह—यहाँ; कुतः—कहाँ से; सति—हे साध्वी; इमाम्—यह; उप—निकट; पुरीम्—नगर; भीरु—हे डरपोक; किम्—क्या; चिकीर्षसि—करना चाहती हो; शंस—कृपा करके बताओ; मे—मुझे।

हे कमलनयनी, कृपा करके मुझे बताओ कि तुम कहाँ से आ रही हो, तुम कौन हो और तुम किसकी पुत्री हो? तुम अत्यन्त साध्वी लगती हो। यहाँ आने का तुम्हारा क्या प्रजोजन है? तुम क्या करना चाह रही हो? कृपया ये सारी बातें मुझसे कहो।

तात्पर्य : वेदान्त सूत्र की प्रथम सूक्ति है—अथातो ब्रह्मजिज्ञासा। मनुष्य देह पाकर अपने आपसे तथा अपनी बुद्धि से अनेक प्रश्न करने चाहिए। मनुष्य से निम्न जीवों में उनकी बुद्धि जीवन की मूल

आवश्यकताओं—खाने, सोने, संभोग करने तथा स्वयं की रक्षा करने—से ऊपर नहीं उठ पाती। कुत्ते, बिल्लियाँ तथा बाघ भी कुछ-न-कुछ खाने के लिए, कहीं-न-कहीं सोने के लिए, अपनी रक्षा के लिए तथा सफलतापूर्वक संभोग करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। किन्तु मनुष्य का शरीर पाकर उसे इतना बुद्धिमान तो होना ही चाहिए कि स्वयं से यह पूछे कि मैं कौन हूँ? मैं इस संसार में क्यों आया? मेरा क्या कर्तव्य है? परम नियन्ता कौन है? जड़ तथा जंगम में क्या अन्तर है? इत्यादि ऐसे अनेक प्रश्न हैं। जो बुद्धिमान है उसे तो प्रत्येक वस्तु के आदि स्रोत के विषय में जिज्ञासा करनी चाहिए—*अथातो ब्रह्मजिज्ञासा*। हर जीव में कुछ-न-कुछ बुद्धि होती है, किन्तु मनुष्य का रूप मिलने पर जीव को अपने आध्यात्मिक स्वरूप के विषय में जिज्ञासा करनी चाहिए। यही वास्तविक मानवीय बुद्धि है। कहा गया है कि जो केवल अपने शरीर के विषय में ही जागरूक रहता है, वह पशु के तुल्य है भले ही वह मानव देह-धारी हो। *भगवद्गीता* (१५.१५) में श्रीकृष्ण कहते हैं—*सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*—मैं सबके हृदय में स्थित हूँ और मुझी से स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति उत्पन्न होते हैं। पशु रूप में जीव ईश्वर से अपने सम्बन्ध को बिल्कुल भूला रहता है। यह *अपोहनम्* या विस्मृति है। किन्तु मनुष्य रूप में यह चेतना अधिक विकसित रहती है, अतः मनुष्य को ईश्वर के साथ अपना सम्बन्ध समझने का अवसर मिलता है। मनुष्य देह धारण करके उसे अपनी बुद्धि का उपयोग ऐसे ही प्रश्नों के पूछने में करना चाहिए जिस प्रकार कि पुरज्जन जीव अज्ञात तरुणी से पूछता है कि वह कहाँ से आई है, उसका क्या काम है इत्यादि। ये *आत्मतत्त्व* के विषय में जिज्ञासाएँ हैं। निष्कर्ष यह निकला कि जब तक जीव आत्मतत्त्व (आत्म-साक्षात्कार) के विषय में जिज्ञासा नहीं होता, तब तक वह पशु के समान है।

क एतेऽनुपथा ये त एकादश महाभटाः ।

एता वा ललनाः सुभु कोऽयं तेऽहिः पुरःसरः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

के—कौन; एते—ये सब; अनुपथाः—अनुचर; ये—जो; ते—तुम्हारे; एकादश—ग्यारह; महा-भटाः—अत्यन्त शूरवीर अंग रक्षक; एताः—ये सब; वा—भी; ललनाः—स्त्रियाँ; सु-भु—हे सुलोचनी; कः—कौन; अयम्—यह; ते—तुम्हारा; अहिः—सर्प; पुरः—सामने; सरः—चलने वाला ।

हे कमलनयनी, तुम्हारे साथ के ग्यारह बलिष्ठ अंगरक्षक और ये दस विशिष्ट सेवक कौन हैं?

इन दस सेवकों के पीछे-पीछे ये स्त्रियाँ कौन हैं तथा तुम्हारे आगे-आगे चलने वाला यह सर्प

कौन है?

तात्पर्य : मन के दस बलिष्ठ नौकर हैं—पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ। ये दसों मन की अधीक्षण में कार्य करते हैं। मन समेत ये दसों—कुल मिलकर ग्यारह—प्रबल अंगरक्षक बनते हैं। इन्द्रियों के अधीन सैकड़ों स्त्रियों को यहाँ पर ललना: कहा गया है। मन बुद्धि के अधीन रहकर कार्य करता है और ये दसों इन्द्रियाँ मन के अधीन रहती हैं और दस इन्द्रियों के अधीन असंख्य इच्छाएँ हैं जिनकी पूर्ति होनी है। किन्तु ये सब प्राण पर आश्रित हैं जिसे यहाँ सर्प के रूप में प्रदर्शित किया गया है। जब तक प्राण रहता है तभी तक मन कार्य करता है और मन के अधीन सारी इन्द्रियाँ काम करती हैं और इन इन्द्रियों से अनेक भौतिक इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं। वास्तव में पुरञ्जन नामक जीव इतने सारे ताम-झाम से अत्यधिक उलझन में रहता है। यह सारा ताम-झाम अनेक प्रकार की चिन्ताओं को जन्म देता है, किन्तु जो व्यक्ति श्रीभगवान् की शरण में चला जाता है और सारा कार्य उन्हीं पर छोड़ देता है, वह ऐसी सारी चिन्ताओं से मुक्त हो जाता है। अतः प्रह्लाद महाराज क्षणिक भौतिक जीवन को स्वीकार करने वाले व्यक्ति को भगवान् की शरण ग्रहण करने और सारी चिन्ताओं से मुक्त होने के लिए तथा कथित जिम्मेदारियों को छोड़ देने का उपदेश देते हैं।

त्वं ह्रीर्भवान्यस्यथ वाग्रमा पतिं

विचिन्वती किं मुनिवद्रहो वने ।

त्वदङ्घ्रिकामाप्तसमस्तकामं

क्व पद्मकोशः पतितः कराग्रात् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; ह्रीः—लज्जा; भवानी—शिव की पत्नी; असि—हो; अथ—कि; वाक्—सरस्वती, विद्या की देवी; रमा—लक्ष्मी; पतिम्—पति के; विचिन्वती—विचार में मग्न, खोज में रत; किम्—क्या तुम हो; मुनि-वत्—मुनि के समान; रहः—एकान्त स्थान में; वने—वन में; त्वत्-अङ्घ्रि—तुम्हारे पाँव; काम—इच्छुक; आप्त—प्राप्त; समस्त—सभी; कामम्—इच्छित वस्तुएँ; क्व—कहाँ हैं; पद्म-कोशः—कमल पुष्प; पतितः—गिरा हुआ; कर—हाथ के; अग्रात्—अग्रभाग या हथेली से।

हे सुन्दर बाला, तुम साक्षात् लक्ष्मी या भगवान् शिव की पत्नी भवानी अथवा ब्रह्मा की पत्नी अर्थात् विद्या की देवी सरस्वती के समान हो। यद्यपि तुम अवश्यमेव इनमें से एक हो, किन्तु मैं तुम्हें इस वन में अकेले विचरण करती देख रहा हूँ। निस्सन्देह, तुम मुनियों की भाँति मौन हो। ऐसा तो नहीं है कि तुम अपने पति को खोज रही हो? चाहे तुम्हारा पति जो कोई भी हो, किन्तु जिस तन्मयता से तुम उसे खोज रही हो यह देखकर उसे सारे ऐश्वर्य प्राप्त हो जाएँगे। मैं सोचता हूँ

कि तुम लक्ष्मी हो, किन्तु तुम्हारे हाथ में कमल पुष्प नहीं है, अतः मैं पूछ रहा हूँ कि तुमने उसे कहाँ फेंक दिया ?

तात्पर्य : प्रत्येक व्यक्ति सोचता है, वह सबसे बुद्धिमान है। कभी वह अपनी बुद्धि को शिव की पत्नी उमा की पूजा में लगाता है, जिससे सुन्दर स्त्री प्राप्त हो। कभी कभी कोई ब्रह्मा के समान विद्वान् बनना चाहता है, तो वह अपनी बुद्धि को विद्या की देवी सरस्वती की पूजा में लगाता है। कभी-कभी जब कोई विष्णु के समान ऐश्वर्यशाली बनना चाहता है, तो वह लक्ष्मी की पूजा करता है। इस श्लोक में पुरञ्जन नामक मोहग्रस्त जीव इतनी सारी जिज्ञासाएँ करता है और यह नहीं समझ पाता कि वह अपनी बुद्धि किस तरह लगाए। बुद्धि का उपयोग भगवान् की सेवा के लिए करना चाहिए। जब मनुष्य इस प्रकार अपनी बुद्धि लगाता है, तो ऐश्वर्य की देवी स्वतः अनुकूल हो जाती हैं। ऐश्वर्य की देवी लक्ष्मी जी कभी भी अपने पति विष्णु के बिना नहीं रहतीं, अतः जब कोई विष्णु को पूजता है, तो लक्ष्मी जी स्वतः अनुकूल हो जाती है। मनुष्य को रावण के समान अकेले लक्ष्मी की पूजा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि वे दीर्घकाल तक बिना पति के नहीं रह सकतीं। इसीलिए उनका एक नाम चञ्चला है। इस श्लोक से स्पष्ट है कि उस तरुणी से बात करने वाला पुरञ्जन हमारी बुद्धि का प्रतीक है। वह उस तरुणी की लज्जाशीलता की प्रशंसा ही नहीं करता, वरन् उस लज्जा के कारण क्रमशः उसके प्रति और अधिक आकृष्ट होता जाता है। वह वास्तव में उसका पति बनना चाह रहा है, इसीलिए वह पूछता है कि क्या वह भावी पति के विषय में सोच रही है या कि वह विवाहित है। यह भोग-इच्छा का उदाहरण है। जो ऐसी इच्छाओं से आकर्षित होता है, वह इस संसार से बँध जाता है और जो आकर्षित नहीं होता उसे मोक्ष प्राप्त होता है। राजा पुरञ्जन उस तरुणी की सुन्दरता की प्रशंसा कर रहा था मानो वह लक्ष्मी हो, किन्तु साथ ही वह सतर्क था कि लक्ष्मी का भोग विष्णु के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं कर सकता। चूँकि उसे सन्देह था कि वह तरुणी लक्ष्मी है या नहीं, इसीलिए वह पूछता है कि वह कमल क्यों नहीं धारण किये है ? यह संसार भी लक्ष्मी के समान है, क्योंकि माया भगवान् विष्णु के निर्देशानुसार कार्य करती हैं, जैसाकि *भगवद्गीता* का कथन है (*मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्*) ।

कोई भी जीव इस संसार का भोग नहीं कर सकता। यदि कोई इसका भोग करना चाहता है, तो वह तुरन्त रावण, हिरण्यकशिपु या कंस जैसा असुर बन जाता है। चूँकि रावण ऐश्वर्य की देवी,

सीतादेवी, का भोग करना चाहता था, अतः वह अपने परिवार, सम्पत्ति तथा ऐश्वर्य सहित विनष्ट हो गया। किन्तु यदि भगवान् विष्णु चाहें तो माया को भोगा जा सकता है। अपनी इन्द्रियों तथा इच्छाओं की तुष्टि का अर्थ है लक्ष्मी का नहीं, अपितु माया का भोग।

नासां वरोर्वन्यतमा भुविस्पृक्
पुरीमिमां वीरवरेण साकम् ।
अर्हस्यलङ्कृतुमदभ्रकर्मणा
लोकं परं श्रीरिव यज्ञपुंसा ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; आसाम्—इनके; वरोरु—हे सुभगे; अन्य-तमा—कोई भी; भुवि-स्पृक्—पृथ्वी को छूते हुए; पुरीम्—नगरी; इमाम्—यह; वीर-वरेण—महान् वीर; साकम्—सहित; अर्हसि—पात्र हो; अलङ्कृतुम्—अलंकृत करने के लिए; अदभ्र—यशस्वी; कर्मणा—कार्यों से; लोकम्—संसार; परम्—दिव्य; श्रीः—लक्ष्मी; इव—सदृश; यज्ञ-पुंसा—समस्त यज्ञों के भोक्ता सहित।

हे परम सौभाग्यशालिनी, ऐसा लगता है कि मैंने जिन स्त्रियों के नाम गिनाये हैं उनमें से तुम कोई नहीं हो, क्योंकि मैं देख रहा हूँ कि तुम्हारे पाँव पृथ्वी का स्पर्श कर रहे हैं। किन्तु यदि तुम इस लोक की कोई सुन्दरी हो, तो जिस प्रकार लक्ष्मी जी विष्णु के साथ वैकुण्ठलोक की श्रीवृद्धि करती हैं, उसी प्रकार तुम भी मेरे साथ संगति करके इस नगरी की सुन्दरता बढ़ाओ। तुम्हें ज्ञात हो कि मैं महान् वीर हूँ और इस लोक का अत्यन्त पराक्रमी राजा हूँ।

तात्पर्य : आसुरी तथा भक्तिमयी अभिरुचि में अन्तर है। भक्त यह अच्छी तरह जानते हैं कि लक्ष्मी जी जो विष्णु या नारायण की चिरसंगिनी हैं किसी जीव द्वारा भोग्या नहीं हैं। यह उच्च भावना कृष्णचेतना (भक्ति) कहलाती है। तो भी प्रत्येक व्यक्ति नारायण की समृद्धि का अनुकरण करते हुए सुखी रहना चाहता है। इस श्लोक में पुरञ्जन उस तरुणी को एक सामान्य स्त्री के रूप में मानता है, किन्तु उससे आकृष्ट होने के कारण वह उससे अनुरोध करता है कि वह उसकी संगिनी बनकर लक्ष्मी सदृश सुखी बन जाये। इस प्रकार वह अपना परिचय अत्यन्त प्रभावशाली राजा के रूप में देता है, जिससे वह स्त्री उसे अपना पति बना ले और लक्ष्मी की भाँति सुखी हो सके। भगवान् का दास बन कर इस संसार को भोगने की इच्छा देव तुल्य है, किन्तु असुर लोग भगवान् को माने बिना इस संसार का भोग करना चाहते हैं। एक असुर तथा देवता में यही अन्तर होता है।

इस श्लोक में उल्लिखित भुवि-स्पृक् शब्द महत्त्वपूर्ण है। जब कभी देवता पृथ्वी पर उतरते हैं, तो

वे भूमि का स्पर्श नहीं करते। पुरञ्जन यह जान गया कि यह तरुणी किसी दिव्य लोक अथवा उच्चतर लोकों से सम्बन्धित नहीं है, क्योंकि उसके पैर भूमि का स्पर्श कर रहे थे। चूँकि इस संसार की प्रत्येक युवती चाहती है कि उसका पति प्रभावशाली धनी और बलवान हो, अतः पुरञ्जन अपने को ऐसा ही व्यक्ति बताकर उसे बहकाना चाहता था। इस भौतिक जगत में चाहे वह नर हो या नारी, प्रत्येक व्यक्ति भोग करना चाहता है। नर सुन्दर नारी का भोग चाहता है और स्त्री शक्तिशाली ऐश्वर्यवान् पुरुष को भोगना चाहती है। इस प्रकार की भौतिक इच्छाओं से युक्त प्रत्येक जीव पुरुष या भोक्ता कहलाता है। ऊपरी तौर से ऐसा प्रतीत होता है कि स्त्री भोग्या है और पुरुष भोक्ता, किन्तु भीतर से प्रत्येक जीव भोक्ता है, इसीलिए इस जगत की प्रत्येक वस्तु *माया* कहलाती है।

यदेष मापाङ्गविखण्डितेन्द्रियं

सत्रीडभावस्मितविभ्रमद्भ्रुवा ।

त्वयोपसृष्टो भगवान्मनोभवः

प्रबाधतेऽथानुगृहाण शोभने ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

यत्—क्योंकि; एषः—यह; मा—मुझको; अपाङ्ग—तुम्हारी चितवन ने; विखण्डित—विचलित; इन्द्रियम्—जिसकी इन्द्रियाँ अथवा मन; स-त्रीड—लज्जायुत; भाव—प्यार; स्मित—हँसती हुई; विभ्रमत्—मोहने वाली; भ्रुवा—भौंहों वाली; त्वया—तुम्हारे द्वारा; उपसृष्टः—प्रभावित होकर; भगवान्—अत्यन्त शक्तिमान; मनः-भवः—कामदेव; प्रबाधते—पीड़ित कर रहा है; अथ—अतः; अनुगृहाण—कृपा करो; शोभने—हे सुन्दरी।

सचमुच तुम्हारी चितवन ने आज मेरे मन को अत्यन्त विचलित कर दिया है। तुम्हारी मुस्कान लज्जायुक्त होकर भी अत्यन्त कामयुक्त होने के कारण मेरे अन्तर में परम शक्तिशाली कामदेव को जाग्रत कर रही है। अतः हे सुन्दरी, मैं तुमसे कृपा की याचना करता हूँ।

तात्पर्य : प्रत्येक व्यक्ति के भीतर कामेच्छाएँ होती हैं और ज्योंही मनुष्य किसी सुन्दरी की भौंहों की गति से विचलित होता है कि भीतर से कामदेव अपना बाण हृदय पर चलाता है। इस प्रकार मनुष्य सुन्दरी की भौंहों की गति (चितवन) से तुरन्त परास्त हो जाता है। जब मनुष्य कामेच्छा से विचलित हो जाता है, तो उसकी इन्द्रियाँ सभी प्रकार के विषयों से (यथा वाणी, स्पर्श, रूप, गंध, स्वाद इत्यादि भोग्य वस्तुओं से) आकर्षित होती हैं। ये आकर्षक इन्द्रिय-वस्तुएँ (विषय) उसे स्त्री के वश में होने के लिए बाध्य कर देती हैं। इस प्रकार जीव का बद्ध जीवन प्रारम्भ होता है। बद्ध जीवन का अर्थ है स्त्री के वश में होना और जीव निश्चित रूप से स्त्री या पुरुष का कृपाकांक्षी रहता है। इस प्रकार जीव एक

दूसरे के बन्धन में रहते हैं और इस तरह माया द्वारा मोहित होकर वे बद्ध जीवन बिताते रहते हैं।

त्वदाननं सुभ्रु सुतारलोचनं

व्यालम्बिनीलालकवृन्दसंवृतम् ।

उन्नीय मे दर्शय वल्गुवाचकं

यद्ब्रीडया नाभिमुखं शुचिस्मिते ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

त्वत्—तुम्हारा; आननम्—मुख; सु-भ्रु—सुन्दर भौंहों वाली; सु-तार—सुन्दर पुतलियों वाली; लोचनम्—आँखें; व्यालम्बि—छितरे हुए; नील—नीले रंग के; अलक-वृन्द—केश राशि; संवृतम्—धिरे हुए; उन्नीय—ऊपर उठाकर; मे—मुझको; दर्शय—दिखाओ; वल्गु-वाचकम्—सुनने में मधुर शब्दों वाली; यत्—जो; ब्रीडया—लज्जा से; न—नहीं; अभिमुखम्—समक्ष, आमने-सामने; शुचि-स्मिते—हे सुन्दर हँसी वाली स्त्री, सुहासिनी।

हे सुन्दरी, सुन्दर भौंहों तथा आँखों से युक्त तुम्हारा मुख अत्यन्त सुन्दर है, जिस पर नीले केश बिखरे हुए हैं। साथ ही तुम्हारे मुख से मधुर ध्वनि निकल रही है। फिर भी तुम लज्जा से इतनी आवृत हो कि मेरी ओर देख नहीं पा रही। अतः हे सुन्दरी, मैं तुमसे प्रार्थना करता हूँ कि तुम हँसो और अपना सिर उठाकर मुझे देखो तो।

तात्पर्य : जब कोई व्यक्ति किसी स्त्री से आकृष्ट होता है, तो ऐसा ही कहता है। प्रकृति द्वारा इस प्रकार बँध जाना मोह कहलाता है। जब कोई माया की सुन्दरता से इस प्रकार मोहित होता है, तो वह उसे भोगने के लिए अति आतुर हो उठता है। इसका विस्तृत वर्णन पुरञ्जन के इस उदाहरण से प्राप्त होता है, जो एक सुन्दरी पर मोहित है। बद्ध जीवन में जीव मुख, भौंहों, आँखों, वाणी या अन्य किसी वस्तु से आकर्षित होता है। यदि संक्षेप में कहें तो प्रत्येक वस्तु आकर्षक बन जाती है। जब स्त्री या पुरुष एक दूसरे द्वारा आकृष्ट होते हैं, तो सुन्दर या असुन्दर का कोई अर्थ नहीं रह जाता। प्रेमी को प्रेमिका के मुख पर हर चीज अत्यन्त सुन्दर दिखती है और इस तरह से वह मोहित हो जाता है। इसी आकर्षण के कारण जीव का इस भौतिक जगत में पतन होता है। *भगवद्गीता* (७.२७) में इसका वर्णन मिलता है—

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।

सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप ॥

“हे अर्जुन! हे शत्रुओं के विजेता! समस्त जीवात्माएँ मोह में जन्म लेती हैं और इच्छा तथा द्वेष के द्वन्द्वों के कारण परास्त होती हैं।”

जीवन की यह अवस्था *अविद्या* कहलाती है। अविद्या का विलोम है वास्तविक ज्ञान। *श्रीईशोपनिषद्* में *विद्या* तथा *अविद्या* का अन्तर बताया गया है। अविद्या के द्वारा मनुष्य बद्ध होता है और विद्या से मुक्त होता है। पुरञ्जन ने यहाँ स्वीकार किया है कि वह अविद्या से आकृष्ट हुआ है। अब वह अविद्या का पूर्ण स्वरूप देखना चाहता है, अतः वह सुन्दरी से प्रार्थना करता है कि वह अपना सिर उठाए जिससे वह प्रत्यक्ष उसे देख सके। इस तरह वह उन विभिन्न अंगों को देखने का इच्छुक है, जिससे अविद्या आकर्षक बनती है।

नारद उवाच

इत्थं पुरञ्जनं नारी याचमानमधीरवत् ।
अभ्यनन्दत तं वीरं हसन्ती वीर मोहिता ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

नारदः उवाच—नारद मुनि ने कहा; इत्थम्—इसके पश्चात्; पुरञ्जनम्—पुरञ्जन को; नारी—स्त्री; याचमानम्—याचना करते हुए; अधीर-वत्—अत्यन्त अधीर होकर; अभ्यनन्दत—उसने सम्बोधित किया; तम्—उस; वीरम्—वीर को; हसन्ती—हँसते हुए; वीर—हे वीर; मोहिता—उससे आकृष्ट होकर।

नारद ने आगे कहा : हे राजन्, जब राजा उस सुन्दरी का स्पर्श करने तथा उसका भोग करने के लिए अत्यधिक मोहित एवं अधीर हो उठा तो वह बाला भी उसके शब्दों से आकृष्ट हुई और उसने हँसते हुए उसकी याचना स्वीकार कर ली। इस समय तक वह राजा के प्रति निश्चय ही आकृष्ट हो चुकी थी।

तात्पर्य : इस घटना से हम यह समझ सकते हैं कि जब मनुष्य आक्रान्त हो जाता है और स्त्री से प्रणय-याचना करने लगता है, तो स्त्री भी पुरुष के प्रति आकृष्ट हो जाती है। *भागवत* (५.५.८) में इस क्रिया को *पुंसःस्त्रिया मिथुनीभावमेतम्* कहा गया है। यह आकर्षण विषयी जीवन के स्तर पर उत्पन्न होता है। इस प्रकार कामोत्तेजना भौतिक बंधन का आगम स्थल है। अतः यह बद्ध जीवन अर्थात् भौतिक संभोग का आगम स्थल ही आध्यात्मिक जीवन की विस्मृति का कारण है। इस प्रकार से जीव की मूल कृष्णचेतना दब जाती है या फिर भौतिक चेतना में बदल जाती है और इस प्रकार से मनुष्य इन्द्रियतृप्ति में लग जाता है।

न विदाम वयं सम्यक्कर्तारं पुरुषर्षभ ।

आत्मनश्च परस्यापि गोत्रं नाम च यत्कृतम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; विदाम—जानती हूँ; वयम्—मैं (हम); सम्यक्—भली-भाँति; कर्तारम्—पैदा करने वाले को; पुरुष-ऋषभ—हे मनुष्यों में श्रेष्ठ; आत्मनः—अपना; च—तथा; परस्य—औरों का; अपि—भी; गोत्रम्—गोत्र, वंश का इतिहास; नाम—नाम; च—तथा; यत्-कृतम्—कौन किसके द्वारा बनाया गया है।

उस युवती ने कहा : हे मनुष्यश्रेष्ठ, मैं नहीं जानती कि मुझे किसने उत्पन्न किया है? मैं तुम्हें यह ठीक-ठीक नहीं बता सकती। न ही मैं अपने या दूसरों के गोत्र के नामों को जानती हूँ।

तात्पर्य : जीव अपनी उत्पत्ति को नहीं जानता। वह यह नहीं जानता कि इस जगत की रचना क्यों हुई, दूसरे लोग इस जगत में क्यों काम कर रहे हैं और इस जगत का चरम स्रोत क्या है। कोई भी इन प्रश्नों के उत्तर नहीं जानता। यही अज्ञान या अविद्या है। जीवन की उत्पत्ति के विषय में खोज करने पर कुछ विख्यात विज्ञानी रासायनिक संघटनों की कोशिकाओं के समुच्चय को ढूँढ पाये हैं, किन्तु वास्तव में इस जगत में जीवन के मूल स्रोत को कोई भी नहीं जानता। *ब्रह्मजिज्ञासा* पद का प्रयोग इस जगत में अपने अस्तित्व के मूल स्रोत को जानने की उत्सुकता को सूचित करने के लिए किया जाता है। कोई दार्शनिक, विज्ञानी या राजनीतिज्ञ ठीक-ठीक नहीं जानता है कि हम कहाँ से आये, हम अपने अस्तित्व के लिए क्यों विकट संघर्ष कर रहे हैं और फिर हम कहाँ जाएँगे। सामान्यतः लोगों का यह मत है कि हम सब यहाँ संयोगवश आये हैं और जब हमारे ये शरीर नष्ट हो जाएँगे तो हमारे सारे नाटकीय कार्य-कलाप बन्द हो जाएँगे और हम शून्य हो जाएँगे। ऐसे विज्ञानी तथा विचारक निर्विशेषवादी एवं शून्यवादी हैं। इस श्लोक में सुन्दरी जीव की वास्तविक स्थिति बता रही है। वह पुरञ्जन को अपने पिता का नाम नहीं बता सकती, क्योंकि उसे यह ज्ञात नहीं है कि वह कहाँ से आई और न वह यह जानती है कि वह उस स्थान में क्यों आई है। वह साफ-साफ कह देती है कि इन सब बातों के विषय में वह अनजान है। इस भौतिक जगत में जीव की यही स्थिति है। कहने को तो अनेक विज्ञानी, दार्शनिक तथा बड़े-बड़े नेता हैं, किन्तु वे यह नहीं जानते कि वे कहाँ से आये हैं और न यह जानते हैं कि तथाकथित सुख पाने के लिए वे इस जगत में व्यस्त क्यों हैं। इस जगत में रहने के लिए अनेक सुविधाएँ हैं, किन्तु हम इतने मूर्ख हैं कि कभी यह नहीं पूछते कि किसने इस संसार को हमारे रहने योग्य बनाया और इसकी इतने सुन्दर ढंग से व्यवस्था की है? प्रत्येक वस्तु व्यवस्थित रूप से चल रही है; किन्तु अज्ञानी लोग सोचते हैं कि इस संसार में सारी वस्तुएँ संयोग से बनी हैं और मृत्यु के पश्चात् वे शून्य हो

जाएँगी। वे सोचते हैं कि यह सुन्दर आवास स्थल अपने आप इसी तरह बना रहेगा।

इहाद्य सन्तमात्मानं विदाम न ततः परम् ।

येनेयं निर्मिता वीर पुरी शरणमात्मनः ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

इह—यहाँ; अद्य—आज; सन्तम्—विद्यमान; आत्मानम्—जीवात्माएँ; विदाम—इतना ही जानते हैं; न—नहीं; ततः परम्—इसके आगे; येन—जिससे; इयम्—यह; निर्मिता—उत्पन्न की गई; वीर—हे वीर; पुरी—नगरी; शरणम्—विश्रामस्थल; आत्मनः—समस्त जीवों का।

हे वीर, हम इतना ही जानते हैं कि हम इस स्थान में हैं। हम यह नहीं जानते कि आगे क्या होगा। दरअसल, हम इतने मूर्ख हैं कि यह भी जानने का प्रयत्न नहीं करते कि हमारे रहने के लिए किसने इतना सुन्दर स्थान बनाया है?

तात्पर्य : कृष्णचेतना का अभाव ही अविद्या (अज्ञान) है। श्रीमद्भागवत (५.५.५) में इसे पराभवस्तावदबोधजातः कहा गया है। प्रत्येक व्यक्ति अज्ञानी रूप में उत्पन्न होता है, यही भागवत का कथन है। अपनी अज्ञानता के कारण हम राष्ट्रवाद, परोपकारवाद, अन्तर्राष्ट्रीयवाद, विज्ञान, दर्शन इत्यादि कई अन्य चीजों को जन्म देते हैं। इन सबके मूल में हमारा अज्ञान काम करता है। यदि अज्ञान ही मूल सिद्धान्त हो तो फिर ज्ञान की इतनी उन्नति से क्या लाभ? जब तक मनुष्य कृष्णभक्ति नहीं करता तब तक उसके सारे कार्य व्यर्थ हैं। यह मनुष्य जीवन अज्ञान को भगाने के लिए मिला है, किन्तु लोग बिना जाने हुए कि अज्ञान को कैसे भगाया जाये, तरह-तरह की योजनाएँ बनाते रहते हैं और मृत्यु के बाद ये सारी योजनाएँ नष्ट हो जाती हैं।

एते सखायः सख्यो मे नरा नार्यश्च मानद ।

सुप्तायां मयि जागर्ति नागोऽयं पालयन्पुरीम् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

एते—ये सब; सखायः—पुरुष मित्र; सख्यः—स्त्री संगीजन; मे—मेरे; नराः—मनुष्य; नार्यः—स्त्रियाँ; च—तथा; मान-द—हे अत्यन्त सम्माननीय; सुप्तायाम्—सोते हुए; मयि—मैं हूँ; जागर्ति—जगता रहता है; नागः—सर्प; अयम्—यह; पालयन्—रक्षा करते हुए; पुरीम्—इस नगरी की।

हे भद्र पुरुष, ये सारे पुरुष तथा स्त्रियाँ जो मेरे साथ हैं, मेरे मित्र हैं और यह साँप सदैव जागता रहता है तथा मेरे सोते समय भी इस पुरी की रक्षा करता है। मैं इतना ही जानती हूँ, इसके आगे कुछ भी नहीं जानती।

तात्पर्य : पुरञ्जन ने उस सुन्दरी से उन ग्यारह पुरुषों तथा उनकी पत्नियों एवं सर्प के विषय में पूछा। उस सुन्दरी ने इन सबका संक्षिप्त उत्तर दिया। उसे स्पष्टत रूप से अपने इर्द-गिर्द के पुरुषों, स्त्रियों तथा सर्प का पूरा-पूरा ज्ञान न था। जैसाकि पहले कहा जा चुका है, सर्प जीव के प्राण का प्रतीक है। प्राण तब भी जाग्रत रहता है जब शरीर तथा इन्द्रियाँ थक जाती है और कोई कार्य नहीं कर सकतीं। यहाँ तक कि अचेतनावस्था में, जब हम सोते रहते हैं, तो यह प्राण रूपी सर्प ज्यों का त्यों जाग्रत रहता है, फलतः हम सोते समय स्वप्न देखते हैं। जब जीव इस भौतिक शरीर को त्यागता है, तो भी प्राण अक्षत रहता है और दूसरे भौतिक शरीर में ले जाया जाता है। इसे देहान्तर कहते हैं और इस प्रक्रिया को हम मृत्यु कहते हैं। वास्तव में मृत्यु नाम की कोई वस्तु नहीं है। प्राण सदैव आत्मा के संग रहता है और जब आत्मा अपनी तथाकथित निद्रा से उठता है, तो वह अपने ग्यारह मित्रों, अर्थात् इन्द्रियों तथा मन एवं उनकी विभिन्न इच्छाओं को (पत्नियों) देखता है। प्राण तो शाश्वत है। यहाँ तक कि जब हम सोते रहते हैं, तो श्वास चलती रहती है और यह सर्प शरीर के भीतर आने वाली वायु को खाकर जीवित रहता है। वायु श्वास के रूप में प्रकट होती है और जब तक श्वास चलती है तब तक हम समझ सकते हैं कि सोने वाला व्यक्ति जीवित है। जब यह स्थूल शरीर निद्रा में होता है, तो प्राण क्रियाशील रहता है और शरीर की रक्षा करता रहता है। इस प्रकार सर्प सजीव बताया गया है तथा शरीर को जीवित रखने के लिए वायु का भक्षण करता है।

दिष्ट्यागतोऽसि भद्रं ते ग्राम्यान्कामानभीप्ससे ।

उद्धिष्यामि तांस्तेऽहं स्वबन्धुभिररिन्दम ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

दिष्ट्या—मेरे सौभाग्य से; आगतः असि—यहाँ आये हो; भद्रम्—कल्याण हो; ते—तुम्हारा; ग्राम्यान्—विषय भोग की; कामान्—इच्छित वस्तुएँ; अभीप्ससे—भोग करना चाहते हो; उद्धिष्यामि—पूरा करूँगी; तान्—उन सबको; ते—तुमको; अहम्—मैं; स्व-बन्धुभिः—अपने समस्त मित्रों सहित; अरिम्-दम—हे शत्रु संहारक।

हे शत्रुसंहारक, तुम किसी न किसी तरह यहाँ पर आये, यह मेरे लिए अत्यन्त सौभाग्य की बात है। तुम्हारा कल्याण हो। तुम्हें अपनी इन्द्रियों को सन्तुष्ट करने की उत्कृष्टा है, अतः मैं तथा मेरे सभी मित्र तुम्हारी इच्छाओं को पूरा करने का भरसक प्रयास करेंगे।

तात्पर्य : जीव इस जगत में इन्द्रियतृप्ति के लिए आता है और उसकी बुद्धि, जो स्त्रीस्वरूपा है उसे सही मार्ग बताती है, जिससे वह अपनी इच्छाओं को जी भर कर पूरा कर सकता है। किन्तु वास्तव में

बुद्धि तो परमात्मा अर्थात् पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से प्राप्त होती है, जो इस भौतिक जगत में आये प्रत्येक जीव को सारी सुविधाएँ प्रदान करते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (२.४१) में कहा गया है—

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।

बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥

“इस अध्यात्म पथ के अनुगामी अपने उद्देश्य में दृढसंकल्प रहते हैं और उनका लक्ष्य एक ही होता है। परन्तु हे कुरुनन्दन! जो दृढसंकल्प नहीं हैं, उनकी बुद्धि अनेक शाखाओं में विभक्त होती है।”

जब भक्त आत्म-साक्षात्कार की ओर अग्रसर होता रहता है, तो उसका एकमात्र लक्ष्य भगवान् की सेवा करना रहता है। वह किसी अन्य भौतिक या आध्यात्मिक कर्म की परवाह नहीं करता। राजा पुरञ्जन एक सामान्य जीव का प्रतीक है और स्त्री उस जीव की बुद्धि है। दोनों के मिलने से जीव अपनी इन्द्रियों का भोग करता है और बुद्धि उसके भोग की सारी सामग्री जुटाती है। जैसे ही जीव को मनुष्य देह मिलती है, वह परिवार की परम्परा, राष्ट्रीयता, रीति-रिवाजों इत्यादि से बँध जाता है। ये सब कुछ भगवान् की माया द्वारा दिलाया जाता है। इस प्रकार जीव देहात्मबोध में अपनी बुद्धि का उपयोग अपनी इन्द्रियों की यथासम्भव तुष्टि के लिए करता है।

इमां त्वमधितिष्ठस्व पुरीं नवमुखीं विभो ।

मयोपनीतानृह्वानः कामभोगान्शतं समाः ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

इमाम्—इस; त्वम्—तुम; अधितिष्ठस्व—जरा ठहरो; पुरीम्—नगरी में; नव-मुखीम्—नौ द्वारों वाली; विभो—मेरे स्वामी; मया—मेरे द्वारा; उपनीतान्—व्यवस्थित; नृह्वानः—ग्रहण करते हुए; काम-भोगान्—इन्द्रियतृप्ति के लिए वस्तुएँ; शतम्—सौ; समाः—वर्ष।

हे स्वामी, मैंने तुम्हारे लिए ही इस नौ द्वारों वाली नगरी की व्यवस्था की है, जिससे सभी प्रकार से तुम्हारी इन्द्रिय-तुष्टि हो सके। तुम यहाँ सौ वर्षों तक रह सकते हो और तुम्हें भोग की सारी सामग्री प्रदान की जायेगी।

तात्पर्य : धर्मार्थकाममोक्षाणां द्वाराः सम्प्राप्तिहेतवः। धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष के क्षेत्र में सभी प्रकार की सफलता का कारण स्त्री है। जब पुरुष पत्नी ग्रहण करता (विवाह करता) है, तो यह माना जाता है कि उसे मोक्ष की दिशा में प्रगति के लिए सहायता मिल रही है। जीवन के प्रारम्भ में मनुष्य

को ब्रह्मचारी के रूप में शिक्षित किया जाता है और फिर उपयुक्त लड़की के साथ विवाह करके गृहस्थ जीवन बिताने दिया जाता है। यदि गृहस्थाश्रम की ठीक से शिक्षा मिले तो मनुष्य को मानव जीवन की समस्त सुविधाएँ—भोजन, नींद, संभोग तथा सुरक्षा—प्राप्त हो जाती हैं। यदि विधि-विधान के अनुसार सब कुछ किया जाये तो प्रत्येक सुविधा उपलब्ध है।

कं नु त्वदन्यं रमये ह्यरतिज्ञमकोविदम् ।

असम्परायाभिमुखमश्नस्तनविदं पशुम् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

कं—किससे; नु—तब; त्वत्—तुम्हारी अपेक्षा; अन्यं—अन्य; रमये—में भोग करूँगी; हि—निश्चय ही; अरति-ज्ञम्—कामसुख न जानने वाला; अकोविदम्—अतः, मूर्ख; असम्पराय—अगले जीवन के ज्ञान से रहित; अभिमुखम्—आगे देखते हुए; अश्नस्तन-विदम्—जो यह नहीं जानता कि आगे क्या हो रहा है; पशुम्—पशु तुल्य।

भला मैं अन्यो के साथ कैसे रमण करने की अपेक्षा कर सकती हूँ, क्योंकि न तो उन्हें रति का ज्ञान है, न वे जीवित अवस्था में अथवा मरने के बाद इस जीवन का भोग करना जानते हैं? ऐसे मूर्ख व्यक्ति पशुतुल्य हैं क्योंकि वे इन्द्रिय-भोग की क्रिया को न इस जीवन में और न ही मृत्यु के उपरान्त जानते हैं।

तात्पर्य : चूँकि जीवों की चौरासी लाख योनियाँ हैं, अतः जीवन की परिस्थितियाँ भी अनेक हैं। जीवन की निम्न कोटियों में (पौधों में) संभोग की कोई व्यवस्था नहीं रहती, किन्तु उच्चतर कोटियों में (यथा पक्षी तथा मधुमक्खियों में) संभोग होता है फिर भी कीड़े-मकौड़े और पशु विषयी जीवन को भोगना नहीं जानते। किन्तु मनुष्य को पूरा-पूरा ज्ञान रहता है कि किस प्रकार रति-सुख उठाया जाये। दरअसल ऐसे अनेक तथाकथित ज्ञानी हैं, जो विषयी जीवन भोगने का निर्देश देते हैं। यहाँ तक कि कामशास्त्र नामक एक विज्ञान भी है, जो काम-विज्ञान ही है। मनुष्य जीवन में ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास जैसे आश्रम भी हैं। इनमें से केवल गृहस्थाश्रम में विषयी जीवन पाया जाता है। ब्रह्मचारी को संभोग की अनुमति नहीं है, वानप्रस्थ स्वेच्छा से संभोग से विरत होता है और संन्यासी तो पूर्णतः विरक्त रहता है। कर्मी लोग ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ अथवा संन्यास जीवन नहीं बिताते, क्योंकि उन्हें गृहस्थ जीवन अत्यन्त प्रिय है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य भौतिकता के प्रति अत्यधिक उन्मुख रहते हैं। वे गृहस्थ जीवन इसीलिए पसन्द करते हैं, क्योंकि इस में संभोग की छूट है। वे सोचते हैं कि अन्य आश्रम पशु-जीवन से भी हेय हैं, क्योंकि पशुओं में मैथुन या संभोग तो होता है, जबकि ब्रह्मचारी,

वानप्रस्थ तथा संन्यासी संभोग से पूर्णतः विरक्त रहते हैं। फलतः कर्मी लोग आध्यात्मिक जीवन के इन आश्रमों को घृणा की दृष्टि से देखते हैं।

धर्मो ह्यत्रार्थकामौ च प्रजानन्दोऽमृतं यशः ।

लोका विशोका विरजा यान्न केवलिनो विदुः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

धर्मः—धार्मिक अनुष्ठान; हि—निश्चय ही; अत्र—यहाँ (गृहस्थाश्रम में); अर्थ—आर्थिक विकास; कामौ—इन्द्रियतृप्ति; च—तथा; प्रजा-आनन्दः—सन्तति का सुख; अमृतम्—त्याग का फल; यशः—यश, प्रतिष्ठा; लोकाः—लोक; विशोकाः—शोकरहित; विरजाः—रोगरहित; यान्—जो; न—कभी नहीं; केवलिनः—योगी; विदुः—जानते हैं।

सुन्दरी ने आगे कहा : इस संसार में गृहस्थ जीवन में ही धर्म, अर्थ, काम तथा पुत्र-पौत्र इत्यादि सन्ततियाँ उत्पन्न करने का सारा सुख है। इसके पश्चात् चाहे तो मोक्ष तथा भौतिक यश भी प्राप्त किया जा सकता है। गृहस्थ ही यज्ञ के फल का रस ग्रहण कर सकता है, जिससे उसे श्रेष्ठ लोकों की प्राप्ति होती है। योगियों (यतियों) के लिए यह भौतिक सुख अज्ञात जैसा है। वे ऐसे सुख की कल्पना भी नहीं कर सकते।

तात्पर्य : वैदिक अनुदेशों के अनुसार मानवीय कर्मों के दो मार्ग हैं—एक प्रवृत्ति-मार्ग दूसरा निवृत्ति-मार्ग। इन दोनों मार्गों का मूल सिद्धान्त धार्मिक जीवन है। पशुजीवन में केवल प्रवृत्ति मार्ग होता है। प्रवृत्ति-मार्ग का अर्थ है इन्द्रिय सुख भोगना और निवृत्ति-मार्ग का अर्थ है आध्यात्मिक प्रगति। पशुओं तथा असुरों के जीवन में निवृत्ति-मार्ग की कोई अवधारणा नहीं पाई जाती और न प्रवृत्ति मार्ग की ही सचमुच कोई धारणा होती है। प्रवृत्ति-मार्ग बताता है कि इन्द्रियतृप्ति की प्रवृत्ति का पाया जाना बुरा नहीं, किन्तु उसे वैदिक आदेशों के अनुसार होना चाहिए। उदाहरणार्थ, प्रत्येक व्यक्ति में विषयी जीवन की प्रवृत्ति होती है, किन्तु आसुरी सभ्यता में विषय-सुख अप्रतिबन्धित रूप से भोगा जाता है। वैदिक संस्कृति में काम (विषय) -सुख वैदिक आदेशों के अनुसार भोगा जाता है। इस प्रकार वेद सभ्य मनुष्यों को दिशा-निर्देश देते हैं कि किस प्रकार इन्द्रियतृप्ति के लिए उनकी प्रवृत्ति की तुष्टि की जाये।

किन्तु निवृत्ति-मार्ग में विषय-सुख पूर्णतः वर्जित है। सामाजिक व्यवस्था चार आश्रमों—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास—में विभाजित है और इनमें से वैदिक आदेशों के अनुसार केवल गृहस्थाश्रम में प्रवृत्ति मार्ग का अनुसरण किया जा सकता है। अन्य तीन आश्रमों—ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ

एवं संन्यास—में काम (विषय) के लिए कोई सुविधा नहीं है।

इस श्लोक में स्त्री केवल प्रवृत्ति-मार्ग की बात कर रही है और निवृत्ति-मार्ग के लिए हतोत्साहित कर रही है। वह स्पष्ट कहती है कि यतियों को तो मात्र कैवल्य से ही प्रयोजन रहता है, अतः वे प्रवृत्ति-मार्ग के सुख के विषय में सोच भी नहीं पाते। दूसरे शब्दों में, जो व्यक्ति वैदिक सिद्धान्तों पर चलता है, वह भौतिक जीवन का सुख न केवल इस जीवन में सुखी रहकर भोगता है वरन् वह अगले जीवन में स्वर्ग को पाकर भी भोगता है। ऐसा व्यक्ति इस जीवन में सभी प्रकार का ऐश्वर्य—यथा पुत्र तथा पौत्र इत्यादि प्राप्त करता है, क्योंकि वह सदैव धार्मिक कृत्यों में लगा रहता है। भौतिक कष्ट हैं—जन्म, बुढ़ापा, रोग तथा मृत्यु, किन्तु प्रवृत्ति मार्ग में रुचि रखने वाले लोग जन्म, बुढ़ापा, रोग तथा मृत्यु के समय नाना प्रकार के धार्मिक कृत्य करते रहते हैं। वे जन्म, जरा इत्यादि की तनिक भी परवाह किये बिना वैदिक अनुष्ठानों के अनुसार विशिष्ट धार्मिक अनुष्ठान करते रहते हैं।

किन्तु वस्तुतः प्रवृत्ति मार्ग विषयी जीवन पर आधारित है। *श्रीमद्भागवत* (७.९.४५) का वचन है—*यन्मैथुनादि गृहमेधिसुखं हि तुच्छम्।* जो गृहस्थ प्रवृत्ति मार्ग में अत्यधिक अनुरक्त रहता है, वह गृहस्थ नहीं वरन् *गृहमेधि* कहलाता है। यद्यपि गृहस्थ इन्द्रियतृप्ति की इच्छा करता है, किन्तु वह वैदिक अनुदेशों के अनुसार चलता है, परन्तु *गृहमेधि* केवल इन्द्रियतृप्ति में रुचि रखता है, उसे वैदिक आदेशों से कोई प्रयोजन नहीं रहता। *गृहमेधि* विषयी जीवन का समर्थक होता है, वह अपने लड़के-बच्चों को भी विषय में प्रवृत्त होने देता है और अन्त में सभी प्रकार के यश से वंचित रहता है। गृहस्थ इस जीवन में तो विषयी जीवन बिताता ही है और अगले जीवन में भी वैसा ही करता है, किन्तु *गृहमेधि* को यह पता नहीं रहता कि अगला जीवन क्या है, क्योंकि वह इसी जीवन में विषय-सुख भोगने में ही लगा रहता है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि जो काम (विषय) के प्रति अत्यधिक उन्मुख रहता है, वह दिव्य आध्यात्मिक जीवन की परवाह नहीं करता। इस कलियुग में तो विशेषतः लोग आध्यात्मिक उन्नति की परवाह नहीं करते। यदि कभी-कभी वह इस ओर उन्मुख होता है, तो यह देखा जाता है कि अनेक धूर्तों के बहकावे में आकर वह आध्यात्मिक जीवन की नकली पद्धति अपना सकता है।

पितृदेवर्षिमर्त्यानां भूतानामात्मनश्च ह ।

क्षेम्यं वदन्ति शरणं भवेऽस्मिन्यद्गृहाश्रमः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

पितृ—पूर्वज, पितरगण; देव—देवता; ऋषि—ऋषिगण; मर्त्यानाम्—सामान्य मनुष्यों का; भूतानाम्—जीवों का; आत्मनः—अपना; च—भी; ह—निश्चय ही; क्षेम्यम्—लाभप्रद; वदन्ति—कहते हैं; शरणम्—शरण; भवे—भौतिक जगत में; अस्मिन्—इस; यत्—जो; गृह-आश्रमः—गृहस्थ जीवन ।

उस स्त्री ने आगे कहा : अधिकारियों के अनुसार गृहस्थ जीवन न केवल अपने को वरन् समस्त पितरों, देवताओं, ऋषियों, साधु पुरुषों तथा अन्य सबों को अच्छा लगाने वाला है। इस प्रकार गृहस्थ जीवन अत्यन्त उपयोगी है।

तात्पर्य : वैदिक पद्धति के अनुसार जो भी इस संसार में पैदा हुआ है उसके ऊपर अनेक ऋण होते हैं। वह देवताओं का—जैसे सूर्य, चन्द्र, इन्द्र, वरुण इत्यादि का—ऋणी है, क्योंकि जीवन की आवश्यकताओं को ये ही पूरा करते हैं। देवताओं की कृपा से ही हमें धूप, प्रकाश, जल तथा अन्य आवश्यक प्राकृतिक सुविधाएं प्राप्त होती हैं। हम अपने पूर्वजों के भी ऋणी हैं, क्योंकि उन्होंने हमें शरीर, सम्पत्ति, बुद्धि, समाज, मित्रता तथा प्यार प्रदान किया है। इसी प्रकार हम राजनीति तथा समाज विज्ञान के लिए सामान्य जनता के ऋणी हैं। हम घोड़े, गाय, गधे, कुत्ते तथा बिल्ली जैसे निम्न पशुओं के भी ऋणी हैं। इस प्रकार जन्म लेते ही मनुष्य पर अनेक ऋण चढ़ते जाते हैं जिनसे उसे उऋण होना होता है। यदि वह उनसे उऋण नहीं होता तो जन्म-मरण के चक्र में पुनः फँसना पड़ता है। गृहमेधी भौतिक वस्तुओं में अत्यधिक लगा रहने के कारण जान ही नहीं पाता कि यदि वह मुकुन्द के चरणकमलों की शरण ग्रहण कर ले तो वह सारे ऋणों से तुरन्त उऋण हो जाता है। दुर्भाग्यवश गृहमेधी को कृष्णभक्ति में कोई रुचि नहीं होती। प्रह्लाद महाराज कहते हैं—

मतिर्न कृष्णे परतः स्वतो वा

मिथोऽभिपद्येत गृहव्रतानाम् ।

(भागवत ७.५.३०)

गृहव्रत गृहमेधी ही है। जो विषयी जीवन को सब कुछ मानता है उसे कृष्णभक्ति अटपटी लगती है। वह या तो अपने आप से या अन्यो से शिक्षा ग्रहण करके या फिर उनसे बातें करके विषय वासनाओं में इतना अनुरक्त रहता है कि कृष्णभक्ति कर ही नहीं सकता।

का नाम वीर विख्यातं वदान्यं प्रियदर्शनम् ।
न वृणीत प्रियं प्राप्तं मादृशी त्वादृशं पतिम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

का—कौन; नाम—निस्सन्देह; वीर—हे वीर पुरुष; विख्यातम्—सुप्रसिद्ध; वदान्यम्—उदार; प्रिय-दर्शनम्—सुन्दर; न—नहीं; वृणीत—स्वीकार करेगा; प्रियम्—सरलता से; प्राप्तम्—प्राप्त हुआ; मादृशी—मुझ जैसी; त्वादृशम्—तुम्हारे समान; पतिम्—पति ।

हे वीर पुरुष, इस संसार में ऐसी कौन (स्त्री) होगी जो तुम जैसे पति को स्वीकार नहीं करेगी? तुम इतने प्रसिद्ध, उदार, इतने सुन्दर तथा सुलभ हो ।

तात्पर्य : प्रत्येक पति निस्सन्देह, अपनी पत्नी के लिए वीर होता है। दूसरे शब्दों में, यदि स्त्री किसी पुरुष को प्यार करती है, तो वह उसे अत्यन्त सुन्दर एवं उदार दिखता है। जब तक कोई दूसरे को सुन्दर न दिखे, भला उसको कौन अपना सारा जीवन अर्पित कर देगा? पति अत्यन्त उदार माना जाता है, क्योंकि वह पत्नी को जितनी वह चाहे उतनी सन्तान प्रदान करता जाता है। प्रत्येक स्त्री को बच्चों की चाह रहती है, अतः कोई भी पति, जो काम की तुष्टि कर सके और इच्छानुसार बच्चे उत्पन्न कर सके, अत्यन्त उदार माना जाता है। न केवल सन्तानें उत्पन्न करके पति उदार बनता है, वरन् अपनी पत्नी को आभूषण, अच्छा भोजन तथा वस्त्र देकर वह उसे अपने वश में कर लेता है। इस प्रकार से संतुष्ट पत्नी कभी भी अपने पति का साथ नहीं छोड़ती। मनु-संहिता की संस्तुति है कि पत्नी को सन्तुष्ट रखने के लिए पति को चाहिए कि उसे कुछ गहने दे, क्योंकि स्त्रियों को सामान्यतः घर, गहनों, वस्त्रों तथा बच्चों इत्यादि की चाह होती है। इस प्रकार स्त्री ही सारे भौतिक सुखों की केन्द्रबिन्दु है।

इस प्रसंग में विख्यातम् शब्द महत्त्वपूर्ण है। मनुष्य सदैव सुन्दर स्त्री के साथ छेड़छाड़ करता है, जिसे कभी-कभी बलात्कार कहते हैं। यद्यपि बलात्कार वैध नहीं है, किन्तु यह तथ्य है कि स्त्रियाँ ऐसे मनुष्य को चाहती हैं, जो बलात्कार में पटु होता है।

कस्या मनस्ते भुवि भोगिभोगयोः

स्त्रिया न सज्जेद्भुजयोर्महाभुज ।

योऽनाथवर्गाधिमलं घृणोद्धत

स्मितावलोकेन चरत्यपोहितुम् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

कस्याः—किसका; मनः—मन; ते—तुम्हारा; भुवि—इस संसार में; भोगि-भोगयोः—सर्प के समान शरीर वाला; स्त्रियाः—स्त्री का; न—नहीं; सज्जेत्—आकर्षित हो जाता है; भुजयोः—भुजाओं द्वारा; महा-भुज—हे बलिष्ठ भुजाओं वाले, महाबाहु; यः—

जो; अनाथ-वर्गा—हम जैसी अनाथ स्त्रियों का; अधिम्—मन का सन्ताप; अलम्—सक्षम; घृणा-उद्धत—छेड़छाड़ से; स्मित-अवलोकने—आकर्षक हँसी से; चरति—विचरण करता है; अपोहितुम्—कम (शान्त) करने के लिए।

हे महाबाहु, इस संसार में ऐसा कौन है, जो सर्प के शरीर जैसी तुम्हारी भुजाओं से आकृष्ट न हो जाये? वास्तव में तुम अपनी मोहक मुस्कान तथा अपनी छेड़छाड़ युक्त दया से हम जैसी पतिविहीन स्त्रियों के सन्ताप को दूर करते हो। हम सोचती हैं कि तुम केवल हमारे हित के लिए ही पृथ्वी पर विचरण कर रहे हो।

तात्पर्य : जब किसी पतिविहीन स्त्री के साथ कोई आक्रमक पुरुष छेड़छाड़ करता है, तो वह इसे कृपा समझती है। स्त्रियाँ सामान्यतः पुरुषों की लम्बी-लम्बी भुजाओं से अत्यधिक आकर्षित होती हैं। सर्प का शरीर गोल होता है और पूँछ की ओर पतला होता जाता है। मनुष्य की सुन्दर भुजाएँ स्त्रियों को सर्पों की भाँति प्रतीत होती हैं और वे ऐसी भुजाओं का आलिंगन चाहती हैं।

इस श्लोक में *अनाथवर्गा* शब्द अत्यन्त सार्थक है। “*नाथ*” का अर्थ है “पति” और “*अ*” का अर्थ है “रहित”। जिस तरुणी के पति नहीं होता वह *अनाथ* कहलाती है, अर्थात् उसकी रक्षा करने वाला कोई नहीं होता। किशोरावस्था प्राप्त करते ही स्त्री के मन में कामवासना हिलोरें लेने लगती है। अतः पिता का धर्म है कि वयःसन्धि आते ही वह अपनी पुत्री का विवाह कर दे; अन्यथा पति न होने से वह अत्यधिक सन्तप्त रहेगी। इस आयु में जो भी व्यक्ति उसकी कामवासना को तृप्त कर दे, वही उसके लिए सन्तोष देने वाला बन जाता है। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि वयःसन्धि में जो भी व्यक्ति स्त्री की कामवासना को तृप्त कर दे, उसे वह आजीवन प्यार करेगी, चाहे वह जो भी हो। इस प्रकार से इस संसार में तथाकथित प्रेम काम-तुष्टि के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

नारद उवाच

इति तौ दम्पती तत्र समुद्य समयं मिथः ।

तां प्रविश्य पुरीं राजन्मुमुदाते शतं समाः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

नारदः उवाच—नारद ने कहा; इति—इस प्रकार; तौ—वे दोनों; दम्-पती—पति तथा पत्नी; तत्र—वहाँ; समुद्य—समान रूप से उत्साही; समयम्—स्वीकार करते हुए; मिथः—परस्पर; ताम्—उस स्थान में; प्रविश्य—प्रवेश करके; पुरीम्—नगरी में; राजन्—हे राजा; मुमुदाते—जीवन का भोग किया; शतम्—एक सौ; समाः—वर्ष।

नारद मुनि ने आगे कहा : हे राजन्, वे दोनों—स्त्री तथा पुरुष—एक दूसरे का पारस्परिक सौहार्द द्वारा समर्थन करते हुए उस नगरी में प्रविष्ट हुए और उन्होंने एक सौ वर्षों तक जीवन का

सुख भोगा ।

तात्पर्य : इस प्रसंग में 'एक सौ वर्ष' महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य को एक सौ वर्ष तक जीवित रहने की छूट है। सूर्य से दूरी के अनुसार विभिन्न लोकों में जीवन की यह अवधि भिन्न-भिन्न है। दूसरे शब्दों में, इस लोक की सौ वर्ष की अवधि अन्य लोकों के सौ वर्ष की अवधि से भिन्न हो सकती है। ब्रह्मलोक में समय की गणना के अनुसार ब्रह्माजी एक सौ वर्ष तक जीवित रहते हैं, किन्तु ब्रह्मा का एक दिन इस लोक के करोड़ों वर्षों के बराबर होता है। इसी प्रकार स्वर्गलोक का एक दिन इस लोक के छह मास के बराबर होता है। फिर भी प्रत्येक लोक में मनुष्य की आयु सौ वर्ष के आस-पास रहती है। विभिन्न लोकों में जीवन-अवधि के अनुसार ही उनके जीवन-स्तरों में भी भिन्नता रहती है।

उपगीयमानो ललितं तत्र तत्र च गायकैः ।

क्रीडन्परिवृतः स्त्रीभिर्हृदिनीमाविशच्छुचौ ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

उपगीयमानः—गाया जाकर; ललितम्—अत्यन्त सुन्दर ढंग से; तत्र तत्र—जहाँ तहाँ; च—भी; गायकैः—चारणों द्वारा; क्रीडन्—खेलते हुए; परिवृतः—घिरा हुआ; स्त्रीभिः—स्त्रियों से; हृदिनीम्—नदी के जल में; आविशत्—घुसा; शुचौ—जब वह बहुत गर्म होता तो।

राजा पुरञ्जन की महिमा तथा महिमामय कार्यों का गान अनेक चारण किया करते थे। ग्रीष्म ऋतु में जब बहुत गर्मी पड़ती तो वह जलाशय में प्रवेश करता था। उसके चारों ओर अनेक स्त्रियाँ होती थीं और वह उनके संग आनन्द उठाता।

तात्पर्य : जीव अपने जीवन की विभिन्न अवस्थाओं में भिन्न-भिन्न कार्य करता है। इनमें से एक अवस्था जाग्रत है और दूसरी स्वप्न की। तीसरी अवस्था सुषुप्ति अर्थात् अचेतावस्था है और अन्तिम अवस्था मृत्यु के पश्चात् आती है। पिछले श्लोक में जाग्रत अवस्था का वर्णन हुआ है—अर्थात् पुरुष तथा स्त्री का विवाह हो गया और वे एक सौ वर्षों तक आनन्द से रहे। इस श्लोक में स्वप्नावस्था का वर्णन है, क्योंकि पुरञ्जन जो भी कार्य दिन में करता वे उसे रात्रि में स्वप्न में दिखते। पुरञ्जन अपनी पत्नी के साथ इन्द्रियसुख के लिए रहता था और रात्रि में यही इन्द्रियसुख विभिन्न रूपों में दिखता था। जब मनुष्य अत्यधिक थक जाता है, तो उसे अच्छी नींद आती है और जब कोई धनी पुरुष थकता है, तो वह अनेक स्त्री-मित्रों सहित विहार-स्थल में जाता है और उनके साथ जलक्रीड़ा करता है। इस

संसार में जीव की ऐसी ही प्रवृत्ति होती है। जीव कभी भी स्त्री से तुष्ट नहीं हो सकता जब तक उसे ब्रह्मचर्य की शिक्षा न प्राप्त हो। सामान्यतः मनुष्य अनेक स्त्रियों के साथ भोग करना चाहता है, यहाँ तक कि बुढ़ापे में भी उनकी कामेच्छा इतनी प्रबल रहती है कि वह तरुणियों के संग रहना चाहता है। इस प्रकार प्रबल कामेच्छा के कारण ही जीव इस संसार से अधिकाधिक उलझता जाता है।

सप्तोपरि कृता द्वारः पुरस्तस्यास्तु द्वे अधः ।
पृथग्विषयगत्यर्थं तस्यां यः कश्चनेश्वरः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

सप्त—सात; उपरि—ऊपर; कृता:—निर्मित; द्वारः—द्वार; पुरः—नगरी के; तस्याः—उस; तु—तब; द्वे—दो; अधः—नीचे;
पृथक्—भिन्न-भिन्न; विषय—स्थानों तक; गति-अर्थम्—जाने के लिए; तस्याम्—उस नगरी में; यः—जो; कश्चन—कोई भी;
ईश्वरः—स्वामी, अधीक्षक।

उस नगरी के नौ द्वारों में से सात तो भूतल पर थे और दो पृथ्वी के नीचे थे। कुल नौ द्वार बनाए गए थे और ये नवों द्वार भिन्न-भिन्न स्थानों को जाते थे। इन सारे द्वारों का उपयोग उस नगरी का अधीक्षक करता था।

तात्पर्य : शरीर के सात द्वार जो ऊपर स्थित हैं, वे हैं—दो आँखें, दो नथुने, दो कान तथा एक मुँह। दो अधोमुखी द्वार हैं—गुदा तथा जननेन्द्रियाँ। इन समस्त द्वारों का उपयोग शरीर का राजा, जो कि जीव है, भिन्न भिन्न भौतिक आनन्द उठाने के लिए करता है। विभिन्न स्थानों के लिए भिन्न-भिन्न द्वारों का होना आज भी भारत के प्राचीन नगरों में पाया जाता है। पहले राजधानी चारों ओर से दीवारों से घिरी रहती थी और विभिन्न शहरों या दिशाओं में जाने के लिए विभिन्न द्वारों से होकर जाना होता था। पुरानी दिल्ली में आज भी कश्मीरी द्वार (गेट), लाहोरीद्वार (गेट) जैसे विभिन्न द्वार तथा चाहारदीवारी के ध्वंसावशेष विद्यमान हैं। इसी प्रकार अहमदाबाद में दिल्ली द्वार है। इस उपमा की मुख्य बात यह है कि जीव विभिन्न भौतिक ऐश्वर्यों का भोग करना चाहता है और प्रकृति ने इस हेतु शरीर में अनेक छिद्र बनाये हैं, जिन्हें वह इन्द्रियभोग के लिए काम में ला सकता है।

पञ्च द्वारस्तु पौरस्त्या दक्षिणैका तथोत्तरा ।
पश्चिमे द्वे अमूषां ते नामानि नृप वर्णये ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

पञ्च—पाँच; द्वारः—द्वार; तु—तब; पौरस्त्याः—पूर्व दिशा की ओर; दक्षिणा—दक्षिणी; एका—एक; तथा—भी; उत्तरा—उत्तर की ओर एक; पश्चिमे—इसी प्रकार पश्चिमी दिशा में; द्वे—दो; अमूषाम्—उनमें से; ते—तुमसे; नामानि—नाम; नृप—हे राजा; वर्णये—मैं वर्णन करूँगा।

हे राजन्, नौ द्वारों में से पाँच पूर्व की ओर, एक उत्तर तथा एक दक्षिण दिशा को और दो पश्चिम की ओर जाते थे। अब मैं इन विभिन्न द्वारों के नाम बताने का प्रयास करूँगा।

तात्पर्य : सतह के सात द्वारों अर्थात् दो आँखें, दो नथुने, दो कान तथा मुँह में से पाँच सामने देखते हैं, जिन्हें पूर्व दिशा की ओर जाते बताया गया है। चूँकि सामने देखने का अर्थ है सूर्य को देखना, अतः इन्हें पूर्वी द्वार कहा गया है, क्योंकि सूर्य पूर्व में उदय होता है। उत्तरी तथा दक्षिणी दिशाओं के एक-एक द्वार दोनों कानों के सूचक हैं और पश्चिम दिशा के दो द्वार गुदा तथा जननेन्द्रिय सूचक हैं। इन समस्त द्वारों का वर्णन नीचे किया गया है।

खद्योताविर्मुखी च प्राग्द्वारावेकत्र निर्मिते ।

विभ्राजितं जनपदं याति ताभ्यां द्युमत्सखः ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

खद्योता—खद्योता नामक; आविर्मुखी—आविर्मुखी नामक; च—भी; प्राक्—पूर्व दिशा की ओर; द्वारौ—दो द्वार; एकत्र—एक स्थान पर; निर्मिते—बनाये गये थे; विभ्राजितम्—विभ्राजित नामक; जन-पदम्—नगरी; याति—जाता था; ताभ्याम्—उनसे; द्युमत्—द्युमान नामक; सखः—अपने मित्र के साथ।

खद्योता तथा आविर्मुखी नाम के दो द्वार पूर्व की ओर स्थित थे, किन्तु वे दोनों एक स्थान पर ही बनाये गये थे। राजा इन दोनों द्वारों से होकर विभ्राजित नामक नगरी को अपने मित्र द्युमान के साथ जाया करता था।

तात्पर्य : खद्योता तथा आविर्मुखी ये दोनों नाम “जुगनू” तथा “प्रकाश स्तम्भ” के सूचक हैं। इससे सूचित होता है कि दोनों आँखों में से बाईं आँख की देखने की शक्ति कम है। यद्यपि दोनों आँखें एक ही स्थान पर स्थित हैं, किन्तु दाईं आँख अधिक देखती है और बाईं कम। राजा अथवा जीव इन दोनों द्वारों का उपयोग वस्तुओं को ठीक ढंग से देखने के लिए करता है, किन्तु वह उन्हें तब तक ठीक से नहीं देख सकता जब तक उसके साथ द्युमान् नामक मित्र न हो। यह मित्र सूर्य है। यद्यपि दोनों आँखें एक स्थान पर स्थित हैं, किन्तु वे सूर्य के बिना देख नहीं सकतीं। *विभ्राजितं जनपदम्*। यदि कोई कुछ स्पष्ट देखना चाहता है (*विभ्राजितम्*) तो उसे दोनों आँखों से देखना चाहिए तथा उनके मित्र सूर्य की सहायता लेनी चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति इस शरीर का राजा है, क्योंकि वह अपनी इच्छानुसार विभिन्न

द्वारों का उपयोग करता है। यद्यपि उसे अपने देखने तथा सुनने की शक्ति पर गर्व रहता है, किन्तु वह प्रकृति की सहायता पर बहुत कुछ आश्रित है।

नलिनी नालिनी च प्राग्द्वारावेकत्र निर्मिते ।
अवधूतसखस्ताभ्यां विषयं याति सौरभम् ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

नलिनी—नलिनी नामक; नालिनी—नालिनी नामक; च—भी; प्राक्—पूर्वी; द्वारौ—दो द्वार; एकत्र—एक स्थान पर; निर्मिते—निर्मित; अवधूत—अवधूत नामक; सखः—अपने मित्र के साथ; ताभ्याम्—उन दोनों द्वारों से; विषयम्—स्थान; याति—जाता था; सौरभम्—सौरभ नामक।

इसी प्रकार पूर्व में नलिनी तथा नालिनी नामक (अन्य) दो द्वार थे और ये भी एक स्थान पर बनाये गये थे। इन द्वारों से राजा अपने मित्र अवधूत के साथ सौरभ नगर को जाया करता था।

तात्पर्य : नलिनी तथा नालिनी नामक दो द्वार दोनों नथुने हैं। जीव इन दोनों द्वारों का उपयोग विभिन्न अवधूतों अर्थात् वायुओं—के द्वारा करता है। यह श्वास क्रिया है। इन द्वारों से जीव सौरभ नगर को अर्थात् सुगन्ध को जाता है। दूसरे शब्दों में, नथुने अपने मित्र वायु की सहायता से संसार में विभिन्न सुगन्धों का भोग करते हैं। नलिनी तथा नालिनी नथुनों के मार्ग हैं, जिनसे जीव श्वास लेता तथा निकालता है। इस प्रकार वह इन्द्रिय सुख की सुगन्ध का आनन्द लेता है।

मुख्या नाम पुरस्ताद्द्विस्तयापणबहूदनौ ।
विषयौ याति पुराड्रसज्ञविपणान्वितः ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

मुख्या—मुख्यता या मुख्य; नाम—नामक; पुरस्तात्—पूर्व दिशा में; द्वाः—द्वार; तया—उससे; आपण—आपण नामक; बहूदनौ—बहूदन नामक; विषयौ—दो स्थान; याति—जाता था; पुर-राट्—नगर का राजा (पुरञ्जन); रस-ज्ञ—रसज्ञ नामक; विपण—विपण नामक; अन्वितः—के साथ।

पूर्व दिशा में स्थित पाँचवें द्वार का नाम मुख्या अर्थात् मुख्य था। इस द्वार से वह रसज्ञ तथा विपण नामक दो मित्रों के साथ बहूदन तथा आपण नामक दो स्थानों को जाता था।

तात्पर्य : यहाँ पर मुख को मुख्य अर्थात् सबसे महत्त्वपूर्ण द्वार बतलाया गया है। मुख इसलिए महत्त्वपूर्ण द्वार है, क्योंकि इससे दो कार्य सम्पन्न होते हैं। पहला खाने का तथा दूसरा बोलने का। खाने का काम रसज्ञ अर्थात् जीभ नामक मित्र के द्वारा सम्पन्न होता है, क्योंकि जीभ विभिन्न प्रकार के भोजनों का स्वाद ले सकती है। जीभ से बोलने का भी काम लिया जाता है—चाहे भौतिक सुख की बात हो

या वैदिक ज्ञान हो। लेकिन यहाँ पर भौतिक इन्द्रिय-सुख पर बल है इसीलिए रसज्ञ शब्द व्यवहृत हुआ है।

पितृहूर्नृप पुर्या द्वार्दक्षिणेन पुरञ्जनः ।

राष्ट्रं दक्षिणपञ्चालं याति श्रुतधरान्वितः ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

पितृहूः—पितृहू नामक; नृप—हे राजा; पुर्याः—पुरी को; द्वाः—द्वार; दक्षिणेन—दक्षिण का; पुरञ्जनः—राजा पुरञ्जन; राष्ट्रम्—राष्ट्र; दक्षिण—दक्षिणी; पञ्चालम्—पञ्चाल नामक; याति—जाता था; श्रुत-धर-अन्वितः—अपने मित्र श्रुतधर के साथ।

नगर के दक्षिणी द्वार का नाम पितृहू था, जिससे होकर राजा पुरञ्जन अपने मित्र श्रुतधर के साथ दक्षिण-पञ्चाल नामक नगर देखने जाया करता था।

तात्पर्य : दाहिना कान कर्मकाण्डीय अर्थात् सकाम कर्मों के लिए प्रयुक्त होता है। जब तक मनुष्य भौतिक सुखोपभोग से जुड़ा रहता है, वह अपने दाहिने कान से सुनता है और अपनी पंचेन्द्रियों का उपयोग पितृलोक जैसे उच्चतर लोक जाने के लिए करता है। इसीलिए दाहिने कान को यहाँ पितृहू द्वार कहा गया है।

देवहूर्नाम पुर्या द्वा उत्तरेण पुरञ्जनः ।

राष्ट्रमुत्तरपञ्चालं याति श्रुतधरान्वितः ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

देवहूः—देवहू; नाम—नाम से विख्यात; पुर्याः—पुरी का; द्वाः—द्वार; उत्तरेण—उत्तरी दिशा में; पुरञ्जनः—राजा पुरञ्जन; राष्ट्रम्—देश; उत्तर—उत्तरी; पञ्चालम्—पंचाल; याति—जाता था; श्रुत-धर-अन्वितः—अपने मित्र श्रुतधर के साथ।

उत्तर दिशा में देवहू नामक द्वार था जिससे होकर राजा पुरञ्जन अपने मित्र श्रुतधर के साथ उत्तर-पञ्चाल नामक स्थान को जाया करता था।

तात्पर्य : दोनों कान उत्तर तथा दक्षिण दिशा में स्थित हैं। दक्षिण दिशा में स्थित कान अत्यन्त प्रबल है और वह इन्द्रियभोग की बातें सुनने के लिए उत्सुक रहता है। किन्तु उत्तर दिशा में स्थित कान गुरु से दीक्षा लेने तथा चिदाकाश (परव्योम) जाने के काम आता है। दाहिना कान पितृहू कहलाता है, जिसका अर्थ है कि इससे उच्चतर लोक तथा पितृ लोक की प्राप्ति की जाती है, किन्तु बायाँ कान, जो देवहू कहलाता है और भी अधिक उच्चतर लोकों, जैसे महर्लोक, तपोलोक तथा ब्रह्मलोक या इनसे भी ऊपर के लोकों को जहाँ मनुष्य स्थायी रूप से स्थित होने की इच्छा रखता है प्राप्त करने के काम आता

है। भगवद्गीता (९.२५) में इसकी व्याख्या की गई है—

यान्ति देवव्रता देवान्पितृन्यान्ति पितृव्रताः ।

भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥

“जो देवताओं को पूजते हैं, वे देवताओं के बीच उत्पन्न होंगे, जो भूत-प्रेतों की पूजा करते हैं, वे उनके बीच जन्म लेंगे, जो पूर्वजों (पितरों) को पूजते हैं, वे पितरों के पास जाते हैं और जो मेरी पूजा करते हैं, वे मेरे पास रहते हैं।”

जो लोग इस जन्म में तथा अगले जन्म में सुखी रहना चाहते हैं, वे पितृलोक जाना चाहते हैं। ऐसे लोग वैदिक आदेशों को दायें कान से सुनते हैं। किन्तु जो तपोलोक, ब्रह्मलोक, वैकुण्ठलोक या कृष्णलोक जाना चाहते हैं, उन्हें ऐसे लोकों में पहुँचने के लिए गुरु से दीक्षा लेनी होनी है।

आसुरी नाम पश्चाद्द्वास्तया याति पुरञ्जनः ।

ग्रामकं नाम विषयं दुर्मदेन समन्वितः ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

आसुरी—आसुरी; नाम—नामक; पश्चात्—पश्चिम दिशा में; द्वाः—द्वार; तथा—उससे; याति—जाया करता था; पुरञ्जनः—राजा पुरञ्जन; ग्रामकम्—ग्रामक; नाम—नामक; विषयम्—विषय भोग की नगरी; दुर्मदेन—दुर्मद से; समन्वितः—के साथ-साथ।

पश्चिम दिशा में आसुरी नामक एक द्वार था, जिससे होकर राजा पुरञ्जन अपने मित्र दुर्मद के साथ ग्रामक नाम की नगरी को जाया करता था।

तात्पर्य : नगरी की पश्चिमी दिशा में आसुरी नाम का द्वार था, क्योंकि यह विशेषकर असुरों के लिए था। असुर शब्द उनके लिए प्रयुक्त होता है, जो इन्द्रियतृप्ति में विशेषकर कामवासना की तृप्ति में लगे रहते हैं, क्योंकि वे विषयी जीवन के प्रति अत्यधिक आसक्त होते हैं। इस प्रकार पुरञ्जन जीव अपनी कामेन्द्रियों से भरपूर भोग करता है। फलतः वह ग्रामक नामक स्थान को जाया करता था। भौतिक इन्द्रियतृप्ति ग्राम्य भी कहलाती है और वह स्थान जहाँ कामेच्छा तुष्ट की जाती है, ग्रामक कहलाता है। ग्रामक जाते समय पुरञ्जन अपने साथ दुर्मद को ले लेता था। विषय शब्द भोजन, शयन, संभोग तथा सुरक्षा (भय) इन चार शारीरिक आवश्यकताओं के लिए प्रयुक्त होता है। दुर्मदेन शब्द का विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है—दुर् अर्थात् “दुष्ट या पापी” और मद अर्थात् “पागलपन”। प्रत्येक जीवात्मा, जो भौतिक प्रकृति के सम्पर्क में है, मद या पागल कहलाता है। कहा जाता है—

पिशाची पाइले येन मतिच्छन्न हय ।

मायाग्रस्त जीवेर हय से भाव उदय ॥

(प्रेम-विवर्त)

जब मनुष्य पर भूत सवार होता है, तो वह पागल हो जाता है और वह अनाप-शनाप बोलता है । अतः इन्द्रियतृप्ति में व्यस्त रहने के लिए दुर्मद जैसे मित्र को अर्थात् जो भवरोग से बुरी तरह ग्रस्त हो मित्र बनाया जाता है ।

आसुरी नाम पश्चाद् द्वाः शब्द एक दूसरे अर्थ के कारण महत्त्वपूर्ण हैं । सूर्य सर्वप्रथम पूर्व दिशा में—बंगाल की खाड़ी में—दिखता है और धीरे-धीरे यह पश्चिम को जाता है । ऐसा अनुभव किया जाता है कि पश्चिम के लोग इन्द्रियतृप्ति में अधिक आसक्त होते हैं । श्री चैतन्य महाप्रभु ने स्वयं इसकी पुष्टि की है—पश्चिमेर लोक सब मूढ अनाचार (चैतन्यचरितामृत, आदि १०.८९) । जितना ही पश्चिम चलते जाइये, लोग आध्यात्मिक जीवन में उतना ही कम रुचि रखने वाले दिखेंगे । वे वैदिक आदर्शों के प्रतिकूल आचरण करते मिलेंगे । इसके फलस्वरूप पश्चिम के लोग इन्द्रियतृप्ति के प्रति अधिक आसक्त हैं । इसी भागवत में पुष्टि हुई है कि आसुरीनाम पश्चाद् द्वाः । दूसरे शब्दों में, पश्चिमी देश के लोग आसुरी सभ्यता में अर्थात् भौतिकतावादी जीवन में रुचि रखते हैं । इसीलिए भगवान् चैतन्य की इच्छा थी कि संसार की पश्चिमी दिशा में कृष्णभावनामृत-आन्दोलन का प्रचार हो, जिससे इन्द्रियतृप्ति में आसक्त लोग इसके उपदेशों से लाभ उठा सकें ।

निर्ऋतिर्नाम पश्चाद् द्वास्तया याति पुरञ्जनः ।

वैशसं नाम विषयं लुब्धकेन समन्वितः ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

निर्ऋतिः—निर्ऋति; नाम—नामक; पश्चात्—पश्चिमी; द्वाः—द्वार; तथा—जिससे; याति—जाया करता था; पुरञ्जनः—राजा पुरञ्जन; वैशसम्—वैशस; नाम—नामक; विषयम्—स्थान को; लुब्धकेन—अपने मित्र लुब्धक; समन्वितः—के साथ-साथ ।

पश्चिम दिशा का दूसरा द्वार निर्ऋति कहलाता था । पुरञ्जन इस द्वार से होकर अपने मित्र लुब्धक के साथ वैशस नामक स्थान को जाया करता था ।

तात्पर्य : यह संकेत गुदा के लिए है । गुदा को नाक, कान तथा आँख की पश्चिम दिशा में स्थित माना जाता है । यह द्वार विशेष रूप से मृत्यु के लिए है । जब कोई साधारण जीवात्मा शरीर को त्यागता

है, तो वह गुदा से होकर निकलता है। अतः यह पीड़ाजनक होता है। जब कोई मल विसर्जन करता है, तो भी पीड़ा होती है। जीव के साथ उसका मित्र लुब्धक अर्थात् 'लालच' भी इसी मार्ग से जाता है। लालचवश हम जरूरत से ज्यादा खाते हैं, फलतः मल त्याग के समय पीड़ा होती है। निष्कर्ष यह निकला कि यदि ठीक से मल त्याग हो तो मनुष्य चंगा अनुभव करता है। यह द्वार निर्ऋति अर्थात् कष्टप्रद द्वार कहलाता है।

अन्धावमीषां पौराणां निर्वाक्येशस्कृतावुभौ ।

अक्षण्वतामधिपतिस्ताभ्यां याति करोति च ॥ ५४ ॥

शब्दार्थ

अन्धौ—अन्धा; अमीषाम्—उनमें से; पौराणाम्—निवासियों से; निर्वाक्—निर्वाक् नामक; पेशस्कृतौ—पेशस्कृत नाम का; उभौ—दोनों; अक्षण्वताम्—आँख वाले व्यक्तियों को; अधिपतिः—शासक; ताभ्याम्—उन दोनों के साथ; याति—जाया करता था; करोति—कार्य करता था; च—तथा।

इस नगरी के अनेक निवासियों में निर्वाक् तथा पेशस्कृत नामक दो व्यक्ति थे। यद्यपि राजा पुरञ्जन आँख वाले व्यक्तियों (दिठियारों) का शासक था, किन्तु वह इन दोनों अंधों के साथ रहता था। वह उनके साथ जहाँ-तहाँ जाता था और नानाविध कार्य किया करता था।

तात्पर्य : यहाँ पर जीव के हाथों तथा पाँवों की ओर संकेत है। दोनों पाँव बोलते नहीं और अंधे होते हैं। यदि कोई चलने के लिए अपने पाँवों पर ही आश्रित रहे तो वे उसे किसी गड्ढे में गिरा सकते हैं या किसी से टक्कर करा सकते हैं। इस प्रकार अंधे पाँवों द्वारा मार्ग दर्शन किये जाने पर मनुष्य का जीवन संकटग्रस्त हो सकता है।

काम करने वाली इन्द्रियों में हाथ तथा पाँव अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, किन्तु इनके आँखें नहीं होतीं। इसका अर्थ यह हुआ कि हाथों तथा पाँवों में छिद्र नहीं होते। सिर में तो कई छिद्र होते हैं यथा दो आँखें, दो नथने, दो कान तथा एक मुख, किन्तु अधोभाग में मुखाओं और टांगों में कोई छिद्र नहीं होते। फलतः हाथों तथा पाँवों को अन्ध कहा गया है। यद्यपि जीव के शरीर में अनेक छिद्र होते हैं, तो भी उसे हाथों तथा पाँवों से ही कार्य करना होता है। यद्यपि जीव अन्य अनेक इन्द्रियों का स्वामी है, किन्तु जब उसे कहीं जाना होता है या कुछ कार्य करना होता है अथवा किसी को छूना होता है, तो उसे अपने अंधे हाथों तथा पाँवों को ही प्रयोग में लाना होता है।

स यर्हन्तःपुरगतो विषूचीनसमन्वितः ।

मोहं प्रसादं हर्षं वा याति जायात्मजोद्भवम् ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; यर्हि—जब; अन्तः-पुर—अपने रनिवास में; गतः—जाता था; विषूचीन—मन के; समन्वितः—सहित; मोहम्—मोह; प्रसादम्—संतोष; हर्षम्—हर्ष; वा—अथवा; याति—अनुभव करता था; जाया—पत्नी; आत्म-ज—पुत्र; उद्भवम्—से उत्पन्न ।

कभी-कभी वह अपने एक मुख्य दास (मन) विषूचीन के साथ अपने अन्तःपुर जाया करता था । उस समय उसकी पत्नी तथा पुत्रों से मोह, संतोष तथा हर्ष उत्पन्न होते थे ।

तात्पर्य : वैदिक मत के अनुसार आत्मा तो हृदय के भीतर स्थित है । जैसाकि वैदिक भाषा में कहा गया है—*हृदयमात्मा प्रतिष्ठितः*—आत्मा तो अपने अन्तःकरण में है । किन्तु भौतिक अवस्था में आत्मा भौतिक गुणों—सतो, रजो तथा तमो गुणों—से ढका रहता है और हृदय के भीतर ये तीनों गुण क्रिया करते हैं । उदाहरणार्थ, सतो गुण में रहने पर प्रसन्नता का अनुभव होता है । रजोगुण होने पर भौतिक सुख के कारण संतोष मिलता है और तमोगुण के कारण मोह उत्पन्न होता है । ये सारे कार्य मन के हैं और ये सोचने, अनुभव करने तथा इच्छा के द्वारा क्रियाशील होते हैं ।

जब जीव अपनी पत्नी, सन्तान तथा घर से घिरा होता है, तो वह मानसिक धरातल पर कार्य करता है । कभी वह प्रसन्न रहता है, तो कभी संतुष्ट, कभी असंतुष्ट रहता है, तो कभी मोहग्रस्त हो जाता है । समाज, मित्रता तथा प्रेम से मोहग्रस्त होकर जीव सोचता है कि उसके तथाकथित समाज, मित्रता तथा प्रेम, राष्ट्रीयता, जाति इत्यादि उसे संरक्षण प्रदान करेंगे । उसे यह पता ही नहीं रहता कि मृत्यु के पश्चात् वह प्रबल प्रकृति के हाथों में फेंक दिया जायेगा जो उसे वर्तमान कार्य के अनुसार विशेष प्रकार का शरीर प्रदान करेगी । हो सकता है कि यह शरीर मनुष्य का न भी हो । इस प्रकार समाज, स्त्री तथा मित्रता के मध्य जीव के सुरक्षित बने रहने का विचार मात्र मोह ही है । विभिन्न भौतिक शरीरों में बद्ध सभी देहधारी जीव वर्तमान भौतिक सुख के कार्यों द्वारा मोहग्रस्त रहते हैं । वे अपना मुख्य कार्य, जो भगवान् के धाम को वापस जाने का है, भूल जाते हैं ।

ऐसे प्रत्येक व्यक्ति को, जो कृष्णभावनाभावित नहीं है, मोहग्रस्त समझना चाहिए । भौतिक वस्तुओं से उसे जो तथाकथित हर्ष तथा संतोष प्राप्त होता है, उसे भी मोह ही समझना चाहिए । वास्तव में मनुष्य को समाज, मित्रता, प्रेम या अन्य कोई माया के आक्रमण से नहीं बचा सकता जो जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा तथा रोग के रूप में होता रहता है । इस मोहावस्था से एक भी जीव को निकाल पाना कठिन है,

अतः भगवान् श्रीकृष्ण भगवद्गीता (७.१४) में कहते हैं—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥

“यह मेरी दैवी माया तीन गुणों से युक्त है और इसे जीत पाना कठिन है। किन्तु जो मेरी शरण ग्रहण कर चुके हैं, वे इसे सरलता से पार कर सकते हैं।” अतः जब तक मनुष्य श्रीकृष्ण के चरणकमलों की शरण ग्रहण नहीं करता, तब तक वह प्रकृति के तीन गुणों के बंधन से निकल नहीं पाता।

एवं कर्मसु संसक्तः कामात्मा वञ्चितोऽबुधः ।

महिषी यद्यदीहेत तत्तदेवान्ववर्तत ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; कर्मसु—कर्मों में; संसक्तः—अत्यन्त आसक्त; काम-आत्मा—कामी; वञ्चितः—ठगा गया; अबुधः—अल्पज्ञानी; महिषी—पटरानी; यत् यत्—जो जो; ईहेत—चाहती थी; तत् तत्—वही वही; एव—निश्चय ही; अन्ववर्तत—पालन करता था।

इस प्रकार विभिन्न प्रकार के मानसिक उहापोह तथा सकाम कर्मों में फँसा रह कर राजा पुरञ्जन पूर्ण रूप से भौतिक बुद्धि के वश में हो गया और ठगा गया। वह दरअसल ही अपनी रानी की समस्त इच्छाओं को पूरा किया करता था।

तात्पर्य : जब जीव इतना मोहग्रस्त हो जाता है कि वह अपनी पत्नी या भौतिक बुद्धि के वशीभूत हो जाता है, तो उसे अपनी तथाकथित पत्नी की बुद्धि की तुष्टि करनी पड़ती है और उसी के आदेशानुसार कार्य करना होता है। विभिन्न शास्त्रों का उपदेश है कि भौतिक सुविधा के लिए मनुष्य को चाहिए कि आभूषण प्रदान करके तथा उसके समस्त आदेशों का पालन करते हुए अपनी पत्नी को सदैव प्रसन्न रखे। इस प्रकार पारिवारिक जीवन में किसी तरह की परेशानी न होगी। अतः अपने सामाजिक हित के लिए मनुष्य को चाहिए कि अपनी पत्नी को प्रसन्न रखे। इस प्रकार जब वह अपनी पत्नी का दास हो जाता है, तो उसे पत्नी के इच्छानुसार कार्य करना होता है। इस प्रकार वह अधिकाधिक फँसता जाता है। बंगाल में कहावत है कि जो अपनी पत्नी का आज्ञाकारी दास बन जाता है, वह अपनी ख्याति खो देता है। किन्तु कठिनाई तो यह है कि जब तक पत्नी का दास न बना जाये तब तक पारिवारिक जीवन अस्त-व्यस्त रहता है। पाश्चात्य देशों में इसी उपद्रव के कारण तलाक,

विवाह-विच्छेद का कानून जन्म लेता है और भारत जैसे पूर्वी देशों में सम्बन्ध-विच्छेद चालू है। अब भारत में तलाक का नया कानून चालू हो जाने से इस उपद्रव की पुष्टि हो जाती है। अन्तःकरण के भीतर मन कार्य करता है, सोचता है, अनुभव करता है और इच्छा करता है और अपनी पत्नी के वश में होने का अर्थ है भौतिक बुद्धि के वश में होना। इस प्रकार मनुष्य अपनी पत्नी से सन्तान उत्पन्न करता है और मानसिक आडम्बर के वश में आकर अनेक प्रकार के कार्यों में फँस जाता है।

क्वचित्पिबन्त्यां पिबति मदिरां मदविह्वलः ।
 अश्नन्त्यां क्वचिदश्नाति जक्षत्यां सह जक्षति ॥ ५७ ॥
 क्वचिद्गायति गायन्त्यां रुदत्यां रुदति क्वचित् ।
 क्वचिद्धसन्त्यां हसति जल्पन्त्यामनु जल्पति ॥ ५८ ॥
 क्वचिद्धावति धावन्त्यां तिष्ठन्त्यामनु तिष्ठति ।
 अनु शोते शयानायामन्वास्ते क्वचिदासतीम् ॥ ५९ ॥
 क्वचिच्छृणोति शृण्वन्त्यां पश्यन्त्यामनु पश्यति ।
 क्वचिज्जिघ्रति जिघ्रन्त्यां स्पृशन्त्यां स्पृशति क्वचित् ॥ ६० ॥
 क्वचिच्च शोचतीं जायामनु शोचति दीनवत् ।
 अनु हृष्यति हृष्यन्त्यां मुदितामनु मोदते ॥ ६१ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी कभी; पिबन्त्याम्—पीते हुए; पिबति—वह पीता था; मदिराम्—शराब; मद-विह्वलः—उन्मत्त; अश्नन्त्याम्—जब वह खाती; क्वचित्—कभी; अश्नाति—खाता था; जक्षत्याम्—जब चबाती; सह—उसके साथ; जक्षति—वह चबाता था; क्वचित्—कभी; गायति—गाता था; गायन्त्याम्—अपनी पत्नी के गाने पर; रुदत्याम्—जब वह रोती; रुदति—वह भी रोता; क्वचित्—कभी; क्वचित्—कभी; हसन्त्याम्—जब वह हँसती; हसति—हँसता था; जल्पन्त्याम्—जब वह अनाप-शनाप बोलती; अनु—साथ-साथ; जल्पति—वह बकता; क्वचित्—कभी; धावति—वह दौड़ता था; धावन्त्याम्—जब वह दौड़ती; तिष्ठन्त्याम्—उसके शान्त खड़े रहने पर; अनु—साथ-साथ; तिष्ठति—खड़ा रहता था; अनु—उसके साथ; शोते—सोता था; शयानायाम्—जब वह सोती थी; अनु—उसके साथ; आस्ते—वह भी बैठता था; क्वचित्—कभी; आसतीम्—जब वह बैठती थी; क्वचित्—कभी; शृणोति—सुनता था; शृण्वन्त्याम्—जब वह सुनने में व्यस्त होती; पश्यन्त्याम्—जब वह कुछ देखती होती; अनु—उसके साथ; पश्यति—वह भी देखता था; क्वचित्—कभी; जिघ्रति—सूँघता था; जिघ्रन्त्याम्—जब उसकी पत्नी सूँघती होती; स्पृशन्त्याम्—जब वह कुछ स्पर्श करती; स्पृशति—वह भी छूता था; क्वचित्—उस समय; क्वचित् च—कभी कभी; शोचतीम्—जब विलाप करती; जायाम्—उसकी पत्नी; अनु—उसके साथ; शोचति—वह भी विलाप करता; दीन-वत्—दीन व्यक्ति के समान; अनु—उसके साथ; हृष्यति—प्रसन्न होता था; हृष्यन्त्याम्—जब वह प्रसन्न होती; मुदिताम्—जब वह सन्तुष्ट होती; अनु—उसके साथ; मोदते—उसे भी संतोष होता।

जब रानी मद्यपान करती तो राजा पुरञ्जन भी मदिरा पीने में व्यस्त रहता। जब रानी भोजन करती तो वह भी उसके साथ-साथ खाता; जब वह चबाती तो वह भी साथ-साथ चबाता। जब रानी गाती तो राजा भी गाता। इसी प्रकार जब रानी रोती तो वह रोता और जब-जब रानी हँसती तो वह भी हँसता। जब रानी अनाप-शनाप बोलती तो वह भी उसी तरह बोलता करता और जब

रानी चलती तो वह उसके पीछे हो लेता। जब रानी शान्त भाव से खड़ी होती तो वह भी खड़ा रहता और जब रानी बिस्तर में लेट जाती तो वह भी लेट जाता। जब रानी बैठती तो वह भी बैठ जाता और जब रानी कुछ सुनती तो वह भी वही सुनता। जब रानी कोई वस्तु देखती तो वह भी उसी को देखता और जब रानी कुछ सूँघती तो राजा भी उसी को सूँघने लगता। जब रानी कुछ छूती तो राजा भी उसे छूता था और जब उसकी प्रिया रानी शोकमग्न होती तो बेचारा राजा भी शोक में उसका साथ देता। इसी तरह रानी को जब सुख मिलता उसका भोग राजा भी करता और जब रानी सन्तुष्ट हो जाती तो राजा भी तुष्टि का अनुभव करता।

तात्पर्य : मन ही वह स्थान है जहाँ आत्मा स्थित है और मन बुद्धि के द्वारा संचालित होता है। जीवात्मा हृदय के भीतर स्थित होने से बुद्धि का अनुसरण करता है। बुद्धि को यहाँ पर रानी के रूप में चित्रित किया गया है और मन के वश में होकर आत्मा भौतिक बुद्धि का उसी तरह अनुसरण करता है, जिस प्रकार राजा अपनी पत्नी का कर रहा था। निष्कर्ष यह निकला कि बुद्धि ही जीव के बन्धन का कारण है। बात यह है कि इस जाल से निकलने के लिए मनुष्य को आध्यात्मिक बुद्धि का सहारा लेना पड़ता है।

महाराज अम्बरीष के जीवन में हम यह देखते हैं कि उन्होंने अपना मन पहले श्रीकृष्ण के चरणकमलों में लगाया जिससे उनकी बुद्धि विमल हो गई। महाराज अम्बरीष ने अपनी अन्य इन्द्रियों को भी भगवान् की सेवा में लगाये रखा। वे अपने नेत्रों का प्रयोग मन्दिर में फूलों से सुन्दर रीति से सजे विग्रह को देखने में करते थे, अपनी घ्राणशक्ति को फूलों की सुगन्ध सूँघने में और अपने पाँवों को मन्दिर तक जाने में प्रयुक्त करते थे। उनके हाथ मन्दिरों की सफाई करने में लगे रहते और उनके कान श्रीकृष्ण का गुणानुवाद सुनते थे। उनकी जीभ दो कार्य करती—एक तो श्रीकृष्ण का गुणगान और दूसरे श्रीविग्रह पर चढ़ा प्रसाद चखने में। भौतिकता—ग्रस्त व्यक्ति, जो पूरी तरह बुद्धि के वश में हैं, ये सारे कार्य नहीं कर सकते। इस प्रकार वे जाने या अनजाने भौतिक बुद्धि के आदेशों के वश में हो जाते हैं। इस तथ्य को अगले श्लोक में सार रूप में दिया गया है।

विप्रलब्धो महिष्यैवं सर्वप्रकृतिवञ्चितः ।

नेच्छन्ननुकरोत्यज्ञः क्लैब्यात्क्रीडामृगो यथा ॥ ६२ ॥

शब्दार्थ

विप्रलब्धः—बन्दी; महिष्या—महिषी (पटरानी) द्वारा; एवम्—इस प्रकार; सर्व—समस्त; प्रकृति—अस्तित्व; वञ्चितः—ठगा जाकर; न इच्छन्—न चाहते हुए; अनुकरोति—अनुकरण करता था; अज्ञः—मूर्ख राजा; क्लैब्यात्—बलपूर्वक; क्रीडा-मृगः—पालतू जानवर; यथा—के समान।

इस प्रकार राजा पुरञ्जन अपनी सुन्दर पत्नी के द्वारा बन्दी बना हुआ था और ठगा जा रहा था। वास्तव में वह संसार में अपने सम्पूर्ण अस्तित्व में ठगा जा रहा था। बेचारा वह मूर्ख राजा अपनी इच्छा के विरुद्ध अपनी पत्नी के वश में उसी प्रकार रहता जिस प्रकार कोई पालतू जानवर अपने स्वामी की इच्छानुसार नाचता रहता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में *विप्रलब्ध* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। *वि* अर्थात् “विशेष रूप से” और *प्रलब्ध* अर्थात् “प्राप्त”। राजा ने अपनी इच्छा-पूर्ति के लिए रानी को प्राप्त किया और इस प्रकार वह सारे भौतिक संसार द्वारा ठगा गया। यद्यपि वह ऐसा करना नहीं चाहता था, किन्तु बुद्धि के वश में रहकर वह पालतू जानवर का-सा आचरण कर रहा था। जिस प्रकार पालतू बन्दर अपने स्वामी के इच्छानुसार नाचता है उसी प्रकार राजा पुरञ्जन अपनी रानी के इशारों पर नाच रहा था। *श्रीमद्भागवत* (५.५.२) में कहा गया है—*महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्तेः*—यदि कोई किसी सन्त पुरुष या भक्त की संगति करता है, तो उसका मोक्ष-मार्ग स्पष्ट हो जाता है। किन्तु यदि वह स्त्री का या किसी ऐसे व्यक्ति का साथ करता है, जो स्त्री पर अत्यन्त आसक्त रहता हो तो उसके बन्धन का मार्ग प्रशस्त होता है।

कुल मिलाकर, मनुष्य को आध्यात्मिक उन्नति के लिए स्त्री की संगति छोड़ देनी चाहिए। संन्यास आश्रम का यही तात्पर्य है। संन्यास लेने के पूर्व मनुष्य को अवैध स्त्री प्रसंग से बचने का अभ्यास करना होता है। विषयी जीवन, चाहे वह वैध हो या अवैध, एक-सा होता है, किन्तु अवैध स्त्री के प्रसंग से मनुष्य अधिकाधिक बँधता जाता है। अपने विषयी जीवन को नियमित करने से सम्भावना रहती है कि उसे अन्ततः काम वासना या स्त्री-संग से मुक्ति मिल जाये। यदि ऐसा हो सके तो आध्यात्मिक जीवन में आगे बढ़ना आसान हो जाता है।

नारद मुनि ने इस अध्याय में बतलाया है कि मनुष्य किस प्रकार अपनी प्रियतमा पत्नी की संगति से मोहित होता है। अपनी पत्नी के प्रति आकर्षण का अर्थ है भौतिक गुणों के प्रति आकर्षण। जो तमोगुण के भौतिक गुण से आकृष्ट होता है, वह जीवन की अधोगति में रहता है और जो सतोगुण से

आकृष्ट होता है, वह उत्तम स्थिति में रहता है। कभी-कभी यह देखा जाता है कि जब मनुष्य सतोगुण पद पर आसीन होता है, तो वह ज्ञान के अनुशीलन के प्रति आकृष्ट होता है। वास्तव में यह स्थिति श्रेष्ठ है, क्योंकि ज्ञान के कारण भक्ति अपनाने में वरीयता आती है। जब तक मनुष्य ज्ञान के पद अर्थात् ब्रह्मभूत अवस्था को प्राप्त नहीं होता, वह भक्ति में आगे प्रगति नहीं कर सकता। भगवान् श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता (१८.५४) में कहा है—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।

समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥

“जो इस प्रकार आध्यात्मिक रूप से स्थित होता है, उसे तुरन्त ही परब्रह्म का साक्षात्कार होता है और वह पूर्ण रूप से प्रसन्न हो जाता है। उसे किसी वस्तु के लिए न तो इच्छा होती है, न शोक होता है; वह प्रत्येक जीव पर समभाव रखता है। इस अवस्था में वह मेरी शुद्ध भक्ति प्राप्त कर लेता है।”

ज्ञान की स्थिति लाभकारी है, क्योंकि यह एक ऐसा साधन है इससे भक्ति का पद प्राप्त किया जा सकता है। किन्तु यदि कोई सीधे भक्ति करता है, तो बिना प्रयास के ही ज्ञान प्रकट होता है। इसकी पुष्टि भागवत (१.२.७) में इस प्रकार हुई है।

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः ।

जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम् ॥

भक्ति स्वतः ही हमारे सांसारिक ज्ञान को प्रकट कर देती है। जो पर्याप्त रूप से ज्ञानी होता है, वह तुरन्त ही तथाकथित समाज, परिवार तथा प्रेम के साथ-साथ अन्य सारी वस्तुओं से विरक्त हो जाता है। जब तक मनुष्य इनसे लगाव रखता है तब तक न तो ज्ञान का प्रश्न उठता है, न ही भक्ति का। किन्तु सीधे भक्ति करने पर मनुष्य ज्ञान तथा विरक्ति दोनों से पूरित हो उठता है। इस प्रकार जीवन सार्थक बन जाता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के चतुर्थ स्कन्ध के अन्तर्गत “राजा पुरञ्जन के गुणों का वर्णन” नामक पच्चीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।